



श्री अष्टपाहुड

- कुन्दकुंदाचार्य

Index

गाथा / सूत्र	विषय
दर्शन-पाहुड	
001)	मंगलाचरण
002)	दर्शन-रहित अवन्दनीय
003)	दर्शन रहित चारित्र से निर्वाण नहीं
004)	ज्ञान से भी दर्शन को अधिकता
005)	सम्यक्त्वरहित तप से भी स्वरूप-लाभ नहीं
006)	सम्यक्त्व सहित सभी प्रवृत्ति सफल है
007)	सम्यक्त्व आत्मा को कर्मरज नहीं लगने देता
008)	दर्शनभ्रष्ट भ्रष्ट हैं
009)	दर्शन-भ्रष्ट द्वारा धर्मात्मा पुरुषों को दोष लगाना
010)	दर्शन-भ्रष्ट को फल-प्राप्ति नहीं
011)	जिनदर्शन ही मूल मोक्षमार्ग है
012)	दर्शन-भ्रष्ट दर्शन-धारकों की करें
013)	दर्शन-भ्रष्ट की विनय नहीं
014)	सम्यक्त्व के पात्र
015)	सम्यग्दर्शन से ही कल्याण-अकल्याण का निश्चय
016)	कल्याण-अकल्याण को जानने का प्रयोजन
017)	सम्यक्त्व जिनवचन से प्राप्त होता है
018)	जिनवचन में दर्शन का लिंग
019)	बाह्यलिंग सहित अन्तरंग श्रद्धान ही सम्यग्दृष्टि
020)	सम्यक्त्व के दो प्रकार
021)	सम्यग्दर्शन ही सब गुणों में सार
022)	श्रद्धानी के ही सम्यक्त्व
023)	दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित की वंदना
024)	यथाजातरूप को मत्सरभाव से वन्दना नहीं करते, वे मिथ्यादृष्टि
025)	इसी को दृढ़ करते हैं
026)	असंयमी वंदने योग्य नहीं
027)	इस ही अर्थ को दृढ़ करते हैं
028)	तप आदि से संयुक्त को नमस्कार
029)	समवसरण सहित तीर्थकर वंदने योग्य हैं या नहीं
030)	मोक्ष किससे होता है?
031)	ज्ञान आदि के उत्तरोत्तर सारपना
032)	इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं

033)	सम्यग्दर्शनरूप रत्न देवों द्वारा पूज्य
034)	सम्यक्त्व का माहात्म्य
035)	स्थावर प्रतिमा
036)	जंगम प्रतिमा

सूत्र-पाहुड

037)	सूत्र का स्वरूप
038)	सूत्रानुसार प्रवर्तनिवाला भव्य
039)	सूत्र-प्रवीण के संसार नाश
040)	सूई का दृष्टान्त
041)	सूत्र का जानकार सम्यक्त्वी
042)	दो प्रकार से सूत्र-निरूपण
043)	सूत्र और पद से भ्रष्ट मिथ्यादृष्टि
044)	जिनसूत्र से भ्रष्ट हरि-हरादिक भी हो तो भी मोक्ष नहीं
045)	जिनसूत्र से च्युत, स्वच्छंद प्रवर्तते हैं, वे मिथ्यादृष्टि
046)	जिनसूत्र में मोक्षमार्ग ऐसा
047)	मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति
048)	उनकी प्रवृत्ति का विशेष
049)	शेष सम्यग्दर्शन ज्ञान से युक्त वस्त्रधारी इच्छाकार योग्य
050)	इच्छाकार योग्य श्रावक का स्वरूप
051)	इच्छाकार के अर्थ को नहीं जान, अन्य धर्म का आचरण से सिद्धि नहीं
052)	इस ही अर्थ को दृढ़ करके उपदेश
053)	जिनसूत्र के जानकार मुनि का स्वरूप
054)	अल्प परिग्रह ग्रहण में दोष
055)	इस ही का समर्थन करते हैं
056)	जिनवचन में ऐसा मुनि वन्दने योग्य
057)	दूसरा भेष उत्कृष्ट श्रावक का
058)	तीसरा लिंग स्त्री का
059)	वस्त्र धारक के मोक्ष नहीं
060)	स्त्रियों को दीक्षा नहीं है इसका कारण
061)	दर्शन से शुद्ध स्त्री पापरहित
063)	सूत्रपाहुड का उपसंहार

चारित्र-पाहुड

064-065)	नमस्कृति तथा चारित्र-पाहुड लिखने की प्रतिज्ञा
066)	सम्यग्दर्शनादि तीन भावों का स्वरूप
067)	जो तीन भाव जीव के हैं उनकी शुद्धता के लिए चारित्र दो प्रकार का कहा है
068)	दो प्रकार का चारित्र
069)	सम्यक्त्वचरण चारित्र के मल दोषों का परिहार
070)	

	सम्यक्त्व के आठ अंग
071)	इसप्रकार पहिला सम्यक्त्वाचरण चारित्र कहा
072)	सम्यक्त्वाचरण चारित्र को अंगीकार करके संयमचरण चारित्र को अंगीकार करने की प्रेरणा
073)	सम्यक्त्वाचरण से भ्रष्ट और वे संयमाचरण सहित को मोक्ष नहीं
074-075)	सम्यक्त्वाचरण चारित्र के चिह्न
076)	सम्यक्त्व कैसे छूटता है?
077)	सम्यक्त्व से च्युत कब नहीं होता है?
078)	अज्ञान मिथ्यात्व कुचारित्र के त्याग का उपदेश
079)	फिर उपदेश करते हैं
080)	यह जीव अज्ञान और मिथ्यात्व के दोष से मिथ्यामार्ग में प्रवर्तन करता है
081)	सम्यग्दर्शन-ज्ञान-श्रद्धान से चारित्र के दोष दूर होते हैं
082)	सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से शीघ्र मोक्ष
083)	सम्यक्त्वाचरण चारित्र के कथन का संकोच करते हैं
084)	संयमाचरण चारित्र
085)	सागार संयमाचरण
086)	इन स्थानों में संयम का आचरण किसप्रकार से है?
087)	पाँच अणुव्रतों का स्वरूप
088)	तीन गुणव्रत
089)	चार शिक्षाव्रत
090)	यतिधर्म
091)	यतिधर्म की सामग्री
092)	पाँच इन्द्रियों के संवरण का स्वरूप
094)	इनको महाव्रत क्यों कहते हैं?
095)	अहिंसाव्रत की पाँच भावना
096)	सत्य महाव्रत की भावना
097)	अचौर्य महाव्रत की भावना
098)	ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावना
099)	पाँच अपरिग्रह महाव्रत की भावना
100)	पाँच समिति
101)	ज्ञान का स्वरूप
102)	जो इसप्रकार ज्ञान से ऐसे जानता है, वह सम्यग्ज्ञानी
103)	मोक्षमार्ग को जानकर श्रद्धा सहित इसमें प्रवृत्ति करता है, वह शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त करता है
104)	निश्चयचारित्ररूप ज्ञान का स्वरूप कि महिमा
105)	गुण दोष को जानने के लिए ज्ञान को भले प्रकार से जानना
106)	जो सम्यग्ज्ञान सहित चारित्र धारण करता है, वह थोड़े ही काल में अनुपम सुख को पाता है
107)	चारित्र के कथन का संकोच
108)	चारित्रपाहुड़ को भाने का उपदेश और इसका फल

बोध-पाहुड

109-110)	ग्रन्थ करने की मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा
----------	-------------------------------------

111-112)	'बोधपाहुड' में ग्यारह स्थलों के नाम
113)	आयतन का निरूपण
116)	चैत्यगृह का निरूपण
118)	जिनप्रतिमा का निरूपण
122)	दर्शन का स्वरूप
124)	जिनबिंब का निरूपण
127)	जिनमुद्रा का स्वरूप
128)	ज्ञान का निरूपण
129)	इसी को दृष्टान्त द्वारा दृढ़ करते हैं
130)	इसप्रकार ज्ञान-विनय-संयुक्त पुरुष होवे वही मोक्ष को प्राप्त करता है
132)	देव का स्वरूप
133)	धर्मादिक का स्वरूप
134)	तीर्थ का स्वरूप
136)	अरहंत का स्वरूप
137)	नाम को प्रधान करके कहते हैं
139)	स्थापना द्वारा अरहंत का वर्णन
140)	गुणस्थान में अरिहंत की स्थापना
141)	मार्गणा में अरिहंत की स्थापना
142)	पर्याप्ति में अरिहंत की स्थापना
143)	प्राण में अरिहंत की स्थापना
144)	जीवस्थान में अरिहंत की स्थापना
145-148)	द्रव्य की प्रधानता से अरहंत का निरूपण
148-149-150)	प्रव्रज्या (दीक्षा) का निरूपण
151)	प्रव्रज्या का स्वरूप
157)	दीक्षा का बाह्यस्वरूप
163)	अन्य विशेष
166)	बोधपाहुड का संकोच
167)	बोधपाहुड पूर्वाचार्यों के अनुसार कहा है
168)	भद्रबाहु स्वामी की स्तुतिरूप वचन

भाव-पाहुड

169)	मंगलाचरण कर ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा
170)	दो प्रकार के लिंग में भावलिंग परमार्थ
171)	बाह्यद्रव्य के त्याग की प्रेरणा
172)	करोड़ों भवों के भाव रहित तप द्वारा भी सिद्धि नहीं
173)	इस ही अर्थ को दृढ़ करते हैं
174)	भाव को परमार्थ जानकर इसी को अंगीकार करो
175)	भाव-रहित द्रव्य-लिंग बहुत बार धारण किये, परन्तु सिद्धि नहीं हुई
176)	भाव-रहितपने के कारण चारों गतियों में दुःख प्राप्ति
177)	नरकगति के दुःख

178)	मनुष्यगति के दुःख
179)	तिर्य्यगति के दुःख
180)	देवगति के दुःख
181)	अशुभ भावना द्वारा देवों में भी दुःख
182)	पार्श्वस्थ भावना से दुःख
183)	देव होकर मानसिक दुःख पाये
184)	अशुभ भावना से नीच देव होकर दुःख पाते हैं
185)	मनुष्य-तिर्य्यच होवे, वहाँ गर्भ के दुःख
186)	अनंतों बार गर्भवास के दुःख प्राप्त किये
187)	मरण द्वारा दुखी हुआ
188)	अनन्त बार संसार में जन्म लिया
189)	जल-थल आदि स्थानों में सब जगह रहा
190)	लोक में सर्व पुद्गल भक्षण किये तो भी अतृप्त रहा
191)	समस्त जल पीया फिर भी प्यासा रहा
192)	अनेक बार शरीर ग्रहण किया
193-195)	आयुर्कर्म अनेक प्रकार से क्षीण हो जाता है
196)	निगोद के दुःख
197)	क्षुद्रभव -- अंतर्मुहूर्त के जन्म-मरण
198)	इसलिए अब रत्नत्रय धारण कर
199)	रत्नत्रय इसप्रकार है
200)	सुमरण का उपदेश
201)	क्षेत्र-परावर्तन
202)	काल-परावर्तन
203)	द्रव्य-परावर्तन
204)	क्षेत्र परावर्तन
205)	शरीर में रोग का वर्णन
206)	उन रोगों का दुःख तूने बहुत सहा
207)	अपवित्र गर्भवास में भी रहा
208)	फिर इसी को कहते हैं
209)	बालकपन में भी अज्ञान-जनित दुःख
210)	देह के स्वरूप का विचार करो
211)	अन्तरंग से छोड़ने का उपदेश
212)	भावशुद्धि बिना सिद्धि नहीं -- उदाहरण बाहुबली
213)	मधुपिंगल मुनि का उदाहरण करते हैं
214)	भावशुद्धि बिना सिद्धि नहीं -- वशिष्ठ मुनि
215)	भावरहित चौरासी लाख योनियों में भ्रमण
216)	द्रव्य-मात्र से लिंगी नहीं, भाव से होता है
217)	द्रव्यलिंगधारक को उलटा उपद्रव हुआ -- उदाहरण
218)	दीपायन मुनि का उदाहरण
219)	भाव-शुद्धि सहित मुनि हुए उन्होंने सिद्धि पाई, उसका उदाहरण
220)	भाव-शुद्धि बिना शास्त्र भी पढ़े तो सिद्धि नहीं -- उदाहरण अभव्यसेन

221)	शास्त्र पढ़े बिना भी भाव-विशुद्धि द्वारा सिद्धी -- उदाहरण शिवभूति मुनि
222)	इसी अर्थ को सामान्यरूप से कहते हैं
223)	इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं
224)	भावलिंग का निरूपण करते हैं
225)	इसी अर्थ को स्पष्ट कर कहते हैं
226)	ज्ञान, दर्शन, संयम, त्याग संवर और योग इनमें अभेद के अनुभव की प्रेरणा
227)	इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं
228)	जो मोक्ष चाहे वह इसप्रकार आत्मा की भावना करे
229)	जो आत्मा को भावे वह इसके स्वभाव को जानकर भावे, वही मोक्ष पाता है
230)	जीव का स्वरूप
231)	जो पुरुष जीव का अस्तित्व मानते हैं वे सिद्ध होते हैं :
232)	वचन के अगोचर है और अनुभवगम्य जीव का स्वरूप इसप्रकार है
233)	जीव का स्वभाव -- ज्ञानस्वरूप
234)	पढ़ना, सुनना भी भाव बिना कुछ नहीं है
235)	यदि बाह्य नग्नपने से ही सिद्धि हो तो नग्न तो सब ही होते हैं
236)	केवल नग्नपने की निष्फलता दिखाते हैं
237)	भाव-रहित द्रव्य-नग्न होकर मुनि कहलावे उसका अपयश होता है
238)	भावलिंगी होने का उपदेश करते हैं
239)	भावरहित नग्न मुनि है वह हास्य का स्थान है
240)	द्रव्यलिंगी बोधि-समाधि जैसी जिनमार्ग में कही है वैसी नहीं पाता है
241)	पहिले भाव से नग्न हो, पीछे द्रव्यमुनि बने यह मार्ग है
242)	शुद्ध भाव ही स्वर्ग-मोक्ष का कारण है, मलिनभाव संसार का कारण है
243)	भाव के फल का माहात्म्य
244)	भावों के भेद
245)	भाव -- शुभ, अशुभ और शुद्ध । आर्त और रौद्र ये अशुभ ध्यान हैं तथा धर्मध्यान शुभ है
246)	जिनशासन का इसप्रकार माहात्म्य है
247)	ऐसा मुनि ही तीर्थकर-प्रकृति बाँधता है
248)	भाव की विशुद्धता के लिए निमित्त आचरण कहते हैं
249)	द्रव्य-भावरूप सामान्यरूप से जिनलिंग का स्वरूप
250)	जिनधर्म की महिमा
251)	धर्म का स्वरूप
252)	पुण्य ही को धर्म मानना केवल भोग का निमित्त, कर्मक्षय का नहीं
253)	आत्मा का स्वभावरूप धर्म ही मोक्ष का कारण
254)	आत्मा के लिए इष्ट बिना समस्त पुण्य के आचरण से सिद्धि नहीं
255)	आत्मा ही का श्रद्धान करो, प्रयत्न-पूर्वक जानो, मोक्ष प्राप्त करो
256)	बाह्य-हिंसादिक क्रिया के बिना, अशुद्ध-भाव से तंदुल मत्स्य नरक को गया
257)	भावरहित के बाह्य परिग्रह का त्यागादिक निष्प्रयोजन
258)	भावशुद्धि के लिये इन्द्रियादिक को वश करो, भावशुद्धि-रहित बाह्यभेष का आडम्बर मत करो
259)	फिर उपदेश कहते हैं
260)	फिर कहते हैं
261)	ऐसा करने से क्या होता है ?

262)	भावशुद्धि के लिए फिर उपदेश
263)	परीषह जय की प्रेरणा
265)	भाव-शुद्ध रखने के लिए ज्ञान का अभ्यास
266)	भाव-शुद्धि के लिए अन्य उपाय
267)	भावसहित आराधना के चतुष्क को पाता है, भाव बिना संसार में भ्रमण
268)	आगे भाव ही के फल का विशेषरूप से कथन
269)	अशुद्ध-भाव से अशुद्ध ही आहार किया, इसलिये दुर्गति ही पाई
270)	सचित्त भोजन पान -- अशुद्ध-भाव
271)	कंद-मूल-पुष्प आदि सचित्त भोजन -- अशुद्ध-भाव
272)	विनय का वर्णन
273)	वैयावृत्य का उपदेश
274)	गर्हा का उपदेश
275)	क्षमा का उपदेश
276)	क्षमा का फल
277)	क्षमा करना और क्रोध छोड़ना
278)	दीक्षाकालादिक की भावना का उपदेश
279)	भावलिंग शुद्ध करके द्रव्यलिंग सेवन का उपदेश
280)	चार संज्ञा का फल संसार-भ्रमण
281)	बाह्य उत्तरगुण की प्रेरणा
282)	तत्त्व की भावना का उपदेश
283)	तत्त्व की भावना बिना मोक्ष नहीं
284)	पाप-पुण्य का और बन्ध-मोक्ष का कारण जीव के परिणाम
285)	पाप-बंध के परिणाम
286)	इससे उलटा जीव है वह पुण्य बाँधता है
287)	आठों कर्मों से मुक्त होने की भावना
288)	कर्मों का नाश के लिये उपदेश
289)	भेदों के विकल्प से रहित होकर ध्यान का उपदेश
290)	यह ध्यान भावलिंगी मुनियों का मोक्ष करता है
291)	दृष्टांत
292)	पंच परमेष्ठी का ध्यान करने का उपदेश
293)	ज्ञान के अनुभवन का उपदेश
294)	ध्यानरूप अग्नि से आठों कर्म नष्ट होते हैं
295)	उपसंहार - भाव श्रमण हो
296)	भाव-श्रमण का फल प्राप्त कर
297)	भावश्रमण धन्य है, उनको हमारा नमस्कार
298)	भावश्रमण देवादिक की ऋद्धि देखकर मोह को प्राप्त नहीं होते
299)	भाव-श्रमण को सांसारिक सुख की कामना नहीं
300)	बुढ़ापा आए उससे पहले अपना हित कर लो
301)	अहिंसाधर्म के उपदेश का वर्णन
302)	अज्ञान-पूर्वक भूत-काल में त्रस-स्थावर जीवों का भक्षण
303)	प्राणि-हिंसा से संसार में भ्रमण कर दुःख पाया

304)	दया का उपदेश
305)	मिथ्यात्व से संसार में भ्रमण । मिथ्यात्व के भेद
306)	अभव्यजीव अपनी प्रकृति को नहीं छोड़ता, उसका मिथ्यात्व नहीं मिटता
307)	एकान्त मिथ्यात्व के त्याग की प्रेरणा
308)	कुगुरु के त्याग की प्रेरणा
309)	अनायातन त्याग की प्रेरणा
310)	सर्व मिथ्या मत को छोड़ने की प्रेरणा
311)	सम्यग्दर्शन-रहित प्राणी चलता हुआ मृतक है
312)	सम्यक्त्व का महानपना
313)	सम्यक्त्व ही जीव को विशिष्ट बनाता है
314)	सम्यग्दर्शन-सहित लिंग की महिमा
315)	ऐसा जानकर दर्शनरत्न को धारण करो
316)	जीवपदार्थ का स्वरूप
317)	सम्यक्त्व सहित भावना से घातिया कर्मों का क्षय
318)	घातिया कर्मों के नाश से अनन्त-चतुष्टय
319)	अनन्तचतुष्टय धारी परमात्मा के अनेक नाम
320)	अरिहंत भगवान मुझे उत्तम बोधि देवे
321)	अरहंत जिनेश्वर को नमस्कार से संसार की जन्मरूप बेल का नाश
322)	जिनसम्यक्त्व को प्राप्त पुरुष आगामी कर्म से लिप्त नहीं होता
323)	भाव सहित सम्यग्दृष्टि हैं वे ही सकल शील संयमादि गुणों से संयुक्त हैं, अन्य नहीं
324)	सम्यग्दृष्टि होकर जिनने कषायरूप सुभट जीते वे ही धीरवीर
325)	आप दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप होकर अन्य को भी उन सहित करते हैं, उनको धन्य है
326)	ऐसे मुनियों की महिमा करते हैं
327)	उन मुनियों के सामर्थ्य कहते हैं
328)	इसप्रकार मूलगुण और उत्तरगुणों से मंडित मुनि हैं वे जिनमत में शोभा पाते हैं
329)	इसप्रकार विशुद्ध-भाव द्वारा तीर्थकर आदि पद के सुखों पाते हैं
330)	मोक्ष का सुख भी ऐसे ही पाते हैं
331)	सिद्ध-सुख को प्राप्त सिद्ध-भगवान मुझे भावों की शुद्धता देवें
332)	भाव के कथन का संकोच
333)	भावपाहुड़ को पढ़ने-सुनने व भावना करने का उपदेश

मोक्ष-पाहुड

334)	मंगलाचरण और ग्रन्थ लिखने की प्रतिज्ञा
335)	मंगलाचरण कर ग्रंथ करने की प्रतिज्ञा
336)	ध्यानी उस परमात्मा का ध्यान कर परम पद को प्राप्त करते हैं
337)	आत्मा के तीन प्रकार
338)	तीन प्रकार के आत्मा का स्वरूप
339)	परमात्मा का विशेषण द्वारा स्वरूप
340)	अंतरात्मपन द्वारा बहिरात्मपन को छोड़कर परमात्मा बनो
341)	बहिरात्मा की प्रवृत्ति

342)	मिथ्यादृष्टि का लक्षण
343)	मिथ्यादृष्टि पर में मोह करता है
344)	मिथ्याज्ञान और मिथ्याभाव से आगामी भव में भी यह मनुष्य देह को चाहता है
345)	देह में निर्मम निर्वाण को पाता है
346)	बंध और मोक्ष के कारण का संक्षेप
347)	स्वद्रव्य में रत सम्यग्दृष्टि कर्मों का नाश करता है
348)	परद्रव्य में रत मिथ्यादृष्टि कर्मों को बाँधता है
349)	पर-द्रव्य से दुर्गति और स्व-द्रव्य से ही सुगति होती है
350)	पर-द्रव्य का स्वरूप
351)	स्व-द्रव्य (आत्म-स्वभाव) ऐसा होता है
352)	ऐसे निज-द्रव्य के ध्यान से निर्वाण
353)	शुद्धात्मा के ध्यान से स्वर्ग की भी प्राप्ति
354)	दृष्टांत
355)	अन्य दृष्टान्त
356)	ध्यान के योग से स्वर्ग / मोक्ष की प्राप्ति
357)	दृष्टांत / दार्ष्टान्त
358)	अव्रतादिक श्रेष्ठ नहीं है
359)	संसार से निकलने के लिए आत्मा का ध्यान करे
360)	आत्मा का ध्यान करने की विधि
361)	इसी को विशेषरूप से कहते हैं
362)	क्या विचारकर ध्यान करनेवाला मौन धारण करता है ?
363)	ध्यान द्वारा संवर और निर्जरा
364-365)	जो व्यवहार में तत्पर है उसके यह ध्यान नहीं
366)	जिनदेवने द्वारा ध्यान अध्ययन में प्रवृत्ति की प्रेरणा
367)	जो रत्नत्रय की आराधना करता है वह जीव आराधक ही है
368)	शुद्धात्मा केवलज्ञान है और केवलज्ञान शुद्धात्मा है
369)	रत्नत्रय का आराधक ही आत्मा का ध्यान करता है
370-371)	आत्मा में रत्नत्रय कैसे है ?
372-373)	सम्यग्दर्शन को प्रधान कर कहते हैं
374)	सम्यग्ज्ञान का स्वरूप
375)	सम्यक्चारित्र का स्वरूप
376)	रत्नत्रय-सहित तप-संयम-समिति का पालन द्वारा शुद्धात्मा का ध्यान से निर्वाण की प्राप्ति
377-378)	ध्यानी मुनि ऐसा बनकर परमात्मा का ध्यान करता है
379)	विषय-कषायों में आसक्त परमात्मा की भावना से रहित है, उसे मोक्ष नहीं
380)	जिनमुद्रा जिन जीवों को नहीं रुचती वे दीर्घ-संसारी
381)	परमात्मा के ध्यान से लोभ-रहित होकर निरास्रव
382)	ऐसा निर्लोभी दृढ़ रत्नत्रय सहित परमात्मा के ध्यान द्वारा परम-पद को पाता है
383)	चारित्र क्या है ?
384)	जीव के परिणाम की स्वच्छता को दृष्टांत पूर्वक दिखाते हैं
385)	वह बाह्य में कैसा होता है?
386)	तीन गुप्ति की महिमा

387)	परद्रव्य में राग-द्वेष करे वह अज्ञानी, ज्ञानी इससे उल्टा है
388)	ज्ञानी मोक्ष के निमित्त भी राग नहीं करता
389)	कर्ममात्र से ही सिद्धि मानना अज्ञान
390)	चारित्र रहित ज्ञान और सम्यक्त्व रहित तप अर्थ-क्रियाकारी नहीं
391)	सांख्यमती आदि के आशय का निषेध
392-393)	तप रहित ज्ञान और ज्ञान रहित तप अकार्य हैं, दोनों के संयुक्त होने पर ही निर्वाण है
394)	बाह्यलिंग-सहित और अभ्यंतरलिंग-रहित मोक्षमार्ग नहीं
395)	तपश्चरण सहित ज्ञान को भाना
396)	आहार, आसन, निद्रा को जीतकर आत्मा का ध्यान करना
397)	ध्येय का स्वरूप
398)	आत्मा का जानना, भाना और विषयों से विरक्त होना ये उत्तरोत्तर दुर्लभ
399)	जब तक विषयों में प्रवर्तता है तब तक आत्म-ज्ञान नहीं होता
400)	आत्मा को जानकर भी भावना बिना संसार में ही रहना है
401)	जो विषयों से विरक्त होकर आत्मा को जानकर भाते हैं वे संसार को छोड़ते हैं
402)	पर-द्रव्य में लेशमात्र भी राग हो तो वह अज्ञानी
403)	इस अर्थ को संक्षेप से कहते हैं
404)	राग संसार का कारण होने से योगीश्वर आत्मा में भावना करते हैं
405)	रागद्वेष से रहित ही चारित्र होता है
406-407)	पंचमकाल आत्मध्यान का काल नहीं है, उसका निषेध
408)	जो ऐसा कहता है कि पंचम-काल ध्यान का काल नहीं, उसको कहते हैं
409)	अभी इस पंचमकाल में धर्मध्यान होता है, यह नहीं मानता है वह अज्ञानी है
410)	इस काल में भी रत्नत्रय का धारक मुनि स्वर्ग प्राप्त करके वहाँ से चयकर मोक्ष जाता है
411)	ध्यान का अभाव मानकर मुनिलिंग ग्रहण कर पाप में प्रवृत्ति करने का निषेध
412)	मोक्षमार्ग से च्युत वे कैसे हैं
413)	मोक्षमार्गी कैसे होते हैं ?
414)	मोक्षमार्गी की प्रवृत्ति
415)	फिर कहते हैं
416)	निश्चयनय से ध्यान इस प्रकार करना
417)	इस ही अर्थ को दृढ़ करते हुए कहते हैं
418)	अब श्रावकों को प्रवर्तने के लिए कहते हैं
419)	श्रावकों को पहिले क्या करना, वह कहते हैं
420-421)	सम्यक्त्व के ध्यान की ही महिमा
422)	जो निरन्तर सम्यक्त्व का पालन करते हैं उनको धन्य है
423)	इस सम्यक्त्व के बाह्य चिह्न बताते हैं
424)	इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं
425-426-427)	मिथ्यादृष्टि के चिह्न कहते हैं
428)	मिथ्यादृष्टि जीव संसार में दुःख-सहित भ्रमण करता है
429)	सम्यक्त्व-मिथ्यात्व भाव के कथन का संकोच
430)	यदि मिथ्यात्व-भाव नहीं छोड़ा तब बाह्य भेष से कुछ लाभ नहीं
431)	मूलगुण बिगाड़े उसके सम्यक्त्व नहीं रहता ?
432-433)	आत्म-स्वभाव से विपरीत को बाह्य क्रिया-कर्म निष्फल

434-435)	ऐसा साधु मोक्ष पाता है
436)	सब से उत्तम पदार्थ -- शुद्ध-आत्मा इस देह में ही रह रहा है, उसको जानो
437-438)	आत्मा ही मुझे शरण है
439)	मोक्षपाहुड़ पढ़ने, सुनने, भाने का फल कहते हैं

लिंग-पाहुड

440)	इष्ट को नमस्कार कर ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा
441)	बाह्यभेष अंतरंग-धर्म सहित कार्यकारी है
442)	निर्ग्रन्थ लिंग ग्रहणकर कुक्रिया करके हँसी करावे, वे पापबुद्धि
443)	लिंग धारण करके कुक्रिया करे उसको प्रगट कहते हैं
444)	फिर कहते हैं
445)	फिर कहते हैं
446)	फिर कहते हैं
447)	फिर कहते हैं
448)	यदि भावशुद्धि के बिना गृहस्थपद छोड़े तो यह प्रवृत्ति होती है
449)	फिर कहते हैं
450)	लिंग धारण करके दुःखी रहता है, आदर नहीं करता, वह भी नरक में जाता है
451)	जो भोजन में भी रसों का लोलुपी होता है वह भी लिंग को लजाता है
452)	इसी को विशेषरूप से कहते हैं
453)	फिर कहते हैं
454)	जो लिंग धारण करके ऐसे प्रवर्तते हैं वे श्रमण नहीं हैं
455)	लिंग ग्रहणकर वनस्पति आदि स्थावर जीवों की हिंसा का निषेध
456)	लिंग धारण करके स्त्रियों से राग करने का निषेध
457)	फिर कहते हैं
458)	उपसंहार
459)	श्रमण को स्त्रियों के संसर्ग का निषेध
460)	फिर कहते हैं
461)	जो धर्म का यथार्थरूप से पालन करता है वह उत्तम सुख पाता है

शील-पाहुड

462)	नमस्काररूप मंगल
463)	शील का रूप
464)	ज्ञान की भावना करना और विषयों से विरक्त होना दुर्लभ
465)	विषयों में प्रवर्तता है तबतक ज्ञान को नहीं जानता है
466)	ज्ञान का, लिंगग्रहण का तथा तप का अनुक्रम
467)	ऐसा करके थोड़ा भी करे तो बड़ा फल होता है
468)	विषयासक्त रहते हैं वे संसार ही में भ्रमण करते हैं
469)	ज्ञान प्राप्त करके इसप्रकार करे तब संसार कटे
470)	शीलसहित ज्ञान से जीव शुद्ध होता है उसका दृष्टान्त
471)	

	विषयासक्ति ज्ञान का दोष नहीं, कुपुरुष का दोष
472)	इसप्रकार निर्वाण होता है
473)	शील की मुख्यता द्वारा नियम से निर्वाण
474)	अविरति को भी 'मार्ग' विषयों से विरक्त ही कहना योग्य
477)	बहुत शास्त्रों का ज्ञान होते हुए भी शील ही उत्तम
478)	जो शील गुण से मंडित हैं, वे देवों के भी वल्लभ हैं
479)	शील सहित का मनुष्यभव में जीना सफल
480)	जितने भी भले कार्य हैं वे सब शील के परिवार हैं
481)	शील ही तप आदिक हैं
482)	विषयरूप विष महा प्रबल है
483)	विषय-रूपी विष से संसार में बारबार भ्रमण
484)	विषयों की आसक्ति से चतुर्गति में दुःख
485)	विषयों को छोड़ने से कुछ भी हानि नहीं है
486)	सब अंगों में शील ही उत्तम है
487)	विषयों में आसक्त, मूढ़, कुशील का संसार में भ्रमण
488)	जो कर्म की गांठ विषय सेवन करके आप ही बाँधी है उसको सत्पुरुष तपश्चरणादि करके आप ही काटते हैं
489)	जो शील के द्वारा आत्मा शोभा पाता है उसको दृष्टान्त द्वारा दिखाते हैं
490)	जो शीलवान पुरुष हैं वे ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं
491)	शील के बिना ज्ञान ही से मोक्ष नहीं है, इसका उदाहरण
492)	शील के बिना ज्ञान से ही भाव की शुद्धता नहीं होती है
493)	यदि नरक में भी शील हो जाय और विषयों में विरक्त हो जाय तो वहाँ से निकलकर तीर्थकर पद को प्राप्त होता है
494)	इस कथन का संकोच करते हैं
495)	इस शील से निर्वाण होता है उसका बहुतप्रकार से वर्णन
496)	ऐसे अष्टकर्मों को जिनने दग्ध किये वे सिद्ध हुए हैं
497)	जो लावण्य और शीलयुक्त हैं वे मुनि प्रशंसा के योग्य होते हैं
498)	जो ऐसा हो वह जिनमार्ग में रत्नत्रय की प्राप्तिरूप बोधि को प्राप्त होता है
499)	यह प्राप्ति जिनवचन से होती है
500)	अंतसमय में सल्लेखना कही है, उसमें दर्शन ज्ञान चारित्र तप इन चार आराधना का उपदेश है
501)	ज्ञान से सर्वसिद्धि है यह सर्वजन प्रसिद्ध है वह ज्ञान तो ऐसा हो

!! श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नमः !!

श्रीमद्-भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य-देव-प्रणीत

श्री

अष्टपाहुड

मूल प्राकृत गाथा,
पं जयचंदजी छाबडा कृत हिंदी टीका सहित

आभार :

!! नमः श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नमः ॥१॥

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका
मुनिभिरूपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥२॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः ॥३॥

॥ श्रीपरमगुरुवे नमः, परम्पराचार्यगुरुवे नमः ॥

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं
श्रीअष्टपाहुड नामधेयं, अस्य मूलाग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां
वचनानुसारमासाद्य आचार्य श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव विरचितं, श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु ॥

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥
सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

दर्शन-पाहुड

+ मंगलाचरण -

काऊण णमुक्कारं जिणवरवसहस्स वड्डमाणस्स
दंसणमग्गं वोच्छामि जहाकमं समासेण ॥१॥

अन्वयार्थ : [जिणवरवसहस्स] कर्मरूप शत्रुओं को जीतने वालों में वृषभ-श्रेष्ठ [वड्डमाणस्स] श्री वर्धमान भगवान् को, अथवा गणादि गुणों से वर्धमान -निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होने वाले जिनवरवृषभ-भगवान् वृषभ देव प्रथम तीर्थकर अथवा समस्त तीर्थकरों को [णमुक्कारं] नमस्कार [काऊण] कर मैं (कुन्दकुन्ददेवा) [जहाकमं] अनुक्रम से [समासेण] संक्षेप में [दंसणमग्गं] दर्शन के मार्ग (मोक्षमार्ग) का स्वरूप [वोच्छामि] कहूँगा ।

+ दर्शन-रहित अवन्दनीय -

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं ।
तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिब्बो ॥२॥

अन्वयार्थ : [जिणवरेहिं] जिनेन्द्र भगवान ने [सिस्साणं] शिष्यों के लिए [दंसण] दर्शन [मूलो] मूलक [धम्मो] धर्म का [उवइट्ठो] उपदेश दिया है, सो [तं] उसे [सकण्णे] अपने कानों से [सोऊण] सुनकर [दंसणहीणो] दर्शन रहित मनुष्यों की [वंदिब्बो] वन्दना [ण] नहीं करनी चाहिए ।

+ दर्शन रहित चारित्र से निर्वाण नहीं -

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं
सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति ॥३॥

अन्वयार्थ : जो पुरुष [दंसणभट्ठा] दर्शन से भ्रष्ट हैं वे [भट्ठा] भ्रष्ट हैं; जो [दंसणभट्टस्स] दर्शन से भ्रष्ट हैं उनको [णिव्वाणं] निर्वाण [णत्थि] नहीं होता; क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि जो [चरियभट्ठा] चारित्र से भ्रष्ट हैं, वे तो [सिज्झंति] सिद्धि को प्राप्त होते हैं, परन्तु जो [दंसणभट्ठा] दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे [सिज्झंति] सिद्धि को प्राप्त [ण] नहीं होते ।

+ ज्ञान से भी दर्शन को अधिकता -

सम्मत्तरयणभट्ठा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं
आराहणाविरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव ॥४॥

अन्वयार्थ : जो पुरुष [सम्मत्त] सम्यक्त्व-रूपी [रयण] रत्न से [भट्ठा] भ्रष्ट है तथा [बहुविहाइं] अनेक प्रकार के [सत्थाइं] शास्त्रों को [जाणंता] जानते हैं, तथापि वह [आराहणा] आराधना से [विरहिया] रहित होते हुए [तत्थेवतत्थेव] वहीँ का वहीँ अर्थात् संसार में ही [भमंति] भ्रमण करते हैं ।

+ सम्यक्त्वरहित तप से भी स्वरूप-लाभ नहीं -

सम्मत्तविरहिया णं सुट्ठू वि उग्गं तवं चरंता णं
ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं ॥५॥

अन्वयार्थ : जो पुरुष [सम्मत्त] सम्यक्त्व से [विरहिया] रहित हैं, वे [सुट्ठू] सुष्ठु अर्थात् भलीभांति [वि] भी [उग्गं] उग्र [तवंचरंता] तप का आचरण करते हैं, तथापि वे [बोहि] बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय जो अपना स्वरूप है उसका [लाहं] लाभ प्राप्त [ण] नहीं करते; यदि [सहस्स] हजार [कोडीहिं] कोटि [वास] वर्ष तक तप करते रहें, तब [अवि] भी स्वरूप की [लहंति] प्राप्ति [णं] नहीं होती ।

+ सम्यक्त्व सहित सभी प्रवृत्ति सफल है -

**सम्मत्तणाणदंसणबलवीरियवड्ढमाण जे सव्वे
कलिकलुसपावरहिया वरणाणी होन्ति अइरेण ॥६॥**

अन्वयार्थ : जो पुरुष [सम्मत्त] सम्यक्त्व [णाण] ज्ञान, [दंसण] दर्शन, बल, [बीरिय] वीर्य से [बड्ढमाण] वर्द्धमान हैं तथा [कलुस] कलिकलुष [पाव] पाप अर्थात् इस [कलि] पञ्चमकाल के मलिन पाप से [रहिया] रहित हैं, [जे] वे [सव्वे] सभी [अइरेण] अल्पकाल में [वर] उत्कृष्ट [णाणी] ज्ञानी अर्थात् केवलज्ञानी [होन्ति] होते हैं ।

+ सम्यक्त्व आत्मा को कर्मरज नहीं लगने देता -

**सम्मत्तसलिलपवहो णिच्चं हियए पवट्टए जस्स
कम्मं वालुयवरणं बन्धुच्चिय णासए तस्स ॥७॥**

अन्वयार्थ : [जस्स] जिस पुरुष के [हियए] हृदय में [सम्मत्त] सम्यक्त्वरूपी [सलिल] जल का [पवहो] प्रवाह [णिच्चं] निरंतर [पवट्टए] प्रवर्तमान है, [तस्स] उसके [कम्मं] कर्मरूपी [वालुयवरणं] धूल का आवरण नहीं लगता तथा पूर्वकाल में जो [बन्धुच्चिय] कर्मबंध हुआ हो वह भी [णासए] नाश को प्राप्त होता है ।

+ दर्शनभ्रष्ट भ्रष्ट हैं -

**जे दंसणेसु भट्ठा णाणे भट्ठा चरित्तभट्ठा य
एदे भट्ट वि भट्ठा सेसं पि जणं विणासन्ति ॥८॥**

अन्वयार्थ : [जे] जो मनुष्य [दंसणेसु] दर्शन से [भट्ठा] भ्रष्ट है वे [णाणे] ज्ञान और [चरित्तभट्ठा] चरित्र से भी भ्रष्ट है, [एवे] वे [भट्टविभट्ठा] भ्रष्टों में भी अतिभ्रष्ट है और [सेसं पि] अन्य [जणं] मनुष्यों को भ्रष्ट कर उनका भी [विणासन्ति] विनाश करते हैं ।

+ दर्शन-भ्रष्ट द्वारा धर्मात्मा पुरुषों को दोष लगाना -

**जो कोवि धम्मसीलो संजमतवणियमजोगगुणधारी
तस्स य दोस कहन्ता भग्गा भग्गतणं दिति ॥९॥**

अन्वयार्थ : [जो] जो [कोवि] किसी भी, [धम्मसीलो] धर्मशील-धर्म के अभ्यासियों, [संजम] संयम [तव] तप, [णियम] नियम [जोय] योग [च] और [गुणधारी] गुणों से युक्त महापुरुषों में मिथ्या [दोस] दोषरोपण [कहन्ता] करते हैं [तस्स] वे स्वयं तो चरित्र से [भग्गा] पतित है [भग्गतणं] दूसरों को भी पतित [दिति] कर देते हैं ।

+ दर्शन-भ्रष्ट को फल-प्राप्ति नहीं -

**जह मूलम्मि विणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि परवड्ढी
तह जिणदंसणभट्ठा मूलविणट्ठा ण सिज्झन्ति ॥१०॥**

अन्वयार्थ : [जह] जिस प्रकार [मूलम्मि] जड़ के [विणट्ठे] नष्ट होने से [दुमस्स] वृक्ष के [परिवार] परिवार की [परिवड्ढी] अभीवृद्धि [णत्थि] नहीं होती [तह] उसी प्रकार [जिण] जिन [दंसण] दर्शन अर्थात् अरिहंत भगवान के मत से [भट्ठा] भ्रष्ट, [मूलविणट्ठा] मूल से विनष्ट है / जड़ से रहित है उन की [सिज्झन्ति] सिद्धि [ण] नहीं होती अर्थात् मोक्ष नहीं प्राप्त होता ।

+ जिनदर्शन ही मूल मोक्षमार्ग है -

**जह मूलाओ खंधो साहापरिवार बहुगुणो होइ
तह जिणदंसण मूलो णिद्धिट्ठो मोक्खमग्गस्स ॥११॥**

अन्वयार्थ : [जह] जिस प्रकार [मूलाओ] जड़ से [खंधो] वृक्ष का स्कंध और [साहा] शाखाओं का [परिवार] परिवार [बहुगुणो] वृद्धि आदि अनेक गुणों से युक्त [होइ] होता है [तह] वैसे ही [जिणदंसण] जिनदर्शन अथवा जिनेन्द्रदेव का प्रगाढ़ श्रद्धान [मोक्ख] मोक्ष [मग्गस्स] मार्ग का [मूलो] मूल कारण [णिद्धिट्ठो] कहा है ।

+ दर्शन-भ्रष्ट दर्शन-धारकों की करें -

जे दंसणेसु भट्टा पाए पाडंति दंसणधराणं
ते होंति लल्लमूआ बोही पुण दुल्लहा तेसिं ॥१२॥

अन्वयार्थ : [जे] जो [दंसणेसु] दर्शन से [भट्टा] भ्रष्ट होकर [दंसणधराणं] दर्शन-धारकों के [पाए] चरणों में [ण] नहीं पड़ते/उन्हें नमस्कार नहीं करते, [ते] वे [लल्लमूआ] गूंगे [होंति] होते हैं [तेसिं] उनको [बोही] रत्नत्रय की [पुण] फिर प्राप्ति [दुल्लहा] दुर्लभ रहती है ।

+ दर्शन-भ्रष्ट की विनय नहीं -

जे वि पडंति य तेसिं जाणंता लज्जगारवभयेण
तेसिं पि णत्थि बोही पावं अणुमोयमाणानं ॥१३॥

अन्वयार्थ : [लज्ज] लज्जा, [गारव] गर्व [च] और [भयेण] भय वश [तेसिं] मिथ्यादृष्टियों के चरणों में, [जेपि] जो [तेसिं] उनको [जाणंता] जानते हुए भी, [पडंति] पड़ते हैं, [पावं] पाप की [अणुमो] अनुमोदन [अमाणानं] करने वालों को [पि] भी [बोहि] रत्नत्रय की प्राप्ति [णत्थि] नहीं होती ।

+ सम्यक्त्व के पात्र -

दुविंह पि गंधचायं तीसु वि जोएसु संजमो ठादि
णाणम्मि करणसुद्धे उब्भसणे दंसणं होदि ॥१४॥

अन्वयार्थ : [दुविंह पि] दोनों प्रकार के (अंतरंग और बाह्य) [गंधचायं] परिग्रहों का त्याग और [तीसुवि] तीन प्रकार का [जोएसु] योग (मन, वचन, काय) पर [संजमो] संयम (प्रवृत्ति पर नियंत्रण) [ठादि] रखना, [णाणम्मि] ज्ञान को [करण] कृत, कारित, अनुमोदन से [सुद्धे] निर्मल रखना, [उब्भसणे] खड़े होकर भोजन लेना, ऐसा [दंसणं] दर्शन [होई] होता है ।

+ सम्यग्दर्शन से ही कल्याण-अकल्याण का निश्चय -

सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभावउवलद्धी
उवलद्धपयत्थे पुण सेयासेयं वियाणेदि ॥१५॥

अन्वयार्थ : [सम्मत्तादो] सम्यक्त्व से [णाणं] ज्ञान, [णाणादो] ज्ञान से [सव्वभावउवलद्धी] समस्त पदार्थ उपलब्ध होते हैं, [पयत्थे] पदार्थ [उवलद्ध] उपलब्ध होने से [पुण] फिर जीव [सेयासेयं] कल्याण और अकल्याण को [वियाणेदि] विशेष रूप से जानता है ।

+ कल्याण-अकल्याण को जानने का प्रयोजन -

सेयासेयविदण्ह उद्धुददुस्सील सीलवंतो वि
सीलफलेणब्भुदयं तत्ते पुण लहइ णिव्वाणं ॥१६॥

अन्वयार्थ : [सेयासेय] कल्याण और अकल्याण को [विदण्ह] जानने-वाला मनुष्य [दुस्सील] दुःशील / दुष्ट-स्वभाव को [उद्धुद] उन्मूलित कर लेता है तथा [सीलवंतोवि] उत्तमशील/श्रेष्ठ स्वभाव युक्त होता है, [सीलफलेण] शील के फलस्वरूप वह [अब्भुदयं] सांसारिक सुख प्राप्तकर [तत्ते पुण] फिर [णिव्वाणं] मोक्ष [लहइ] प्राप्त करता है ।

+ सम्यक्त्व जिनवचन से प्राप्त होता है -

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूदं
जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥१७॥

अन्वयार्थ : [जिणवयण] जिनवचन रूपी [मोसहमिणं] औषधि [विसयसुह] विषयसुखों को [विरेयणं] दूर करने वाली है, [अमिदभूयं] अमृत रूप है, [जरमरण] जरा और मृत्यु की [वाहि] व्याधि को [हरणं] हरने वाली है तथा [सव्व] सब [दुक्खाणं] दुखों का [खय] क्षय [करणं] करने वाली है ।

+ जिनवचन में दर्शन का लिंग -

एगं जिणस्स रूवं बिदियं उक्किट्ठसावयाणं तु
अवरट्ठियाण तइयं चउत्थ पुण लिंगदंसणं णत्थि ॥१८॥

अन्वयार्थ : [एकं] एक [जिणस्स] जिनेन्द्र भगवान् का नग्न [रूवं] रूप, [वीयं] दुसरा [उक्किट्ठ] उत्कृष्ट [सावयाणं] श्रावकों [तु] और [तइयं] तीसरा [अवरट्ठियाण] जघन्यपद में स्थित ऐसी आर्यिकाओं का लिंग है, ये तीन लिंग ही [दंसणं] जिन दर्शन के कहे गए हैं, [पुण] फिर [चउत्थं] चौथा [लिंगं] लिंग [णत्थि] नहीं है ।

+ बाह्यलिंग सहित अन्तरंग श्रद्धान ही सम्यग्दृष्टि -

छह दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्धिट्ठा
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥१९॥

अन्वयार्थ : [छहदव्व] छः द्रव्यों, [णव] नौ [पयत्था] पदार्थों, [पंचत्थी] पांच अस्तिकाय और [सत्ततच्च] सात तत्व [णिद्धिट्ठा] कहे गए हैं, [ताण] उनके [रूवं] स्वरूप का जो [सद्दहइ] श्रद्धान करता है [सो] उसे [सद्दिट्ठी] सम्यग्दृष्टि [मुणेयव्वो] जानना / मानना चाहिए ।

+ सम्यक्त्व के दो प्रकार -

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ॥२०॥

अन्वयार्थ : [जिणवरेहिं] जिनेन्द्र देव ने [पण्णत्तं] कहा है कि [ववहारा] व्यवहारनय से [जीवादि] जीवादि तत्वों का और [णिच्छयदो] निश्चयनय से अपनी [अप्पाणं] आत्मा का [सद्दहणं] श्रद्धान करना [सम्मत्तं] सम्यक्त्व [हवइ] है ।

+ सम्यग्दर्शन ही सब गुणों में सार -

एवं जिणपण्णत्तं दंसणरयणं धरेह भावेण
सारं गुणरयणत्तय सोवाणं पढम मोक्खस्स ॥२१॥

अन्वयार्थ : [एवं] इस प्रकार [जिणपण्णत्तं] जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रणीत [दंसण रयणं] सम्यग्दर्शनरूपी रत्न को [भावेण] भावपूर्वक [धरेह] धारण करो ! यह [गुणरयणत्तय] क्षमादि गुणों और रत्नत्रय में [सारं] श्रेष्ठतम है क्योंकि [मोक्खस्स] मोक्ष की [पढम] प्रथम [सोवाणं] सीढ़ी है ।

+ श्रद्धानी के ही सम्यक्त्व -

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं
केवलिजिणेहिं भणियं सद्दमाणस्स सम्मत्तं ॥२२॥

अन्वयार्थ : [जं] जो कार्य [सक्कइ] किया जा सकता है [तं] वह [कीरइ] करे [च] और [जं ण] जो नहीं [सक्केइ] कर सकते [तं] उसका [सद्दहणं] श्रद्धान करे । [केवलि] केवलि, [जिणेहिं] जिनेन्द्र भगवान् ने [भणियं] कहा है कि [सद्दमाणस्स] श्रद्धान करने वाला [सम्मत्तं] सम्यक्त्व से युक्त, सम्यग्दृष्टि है ।

+ दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित की वंदना -

दंसणणाणचरित्ते तवविणये णिच्चकालसुपसत्था
एदे दु वंदणीया जे गुणवादी गुणधराणं ॥२३॥

अन्वयार्थ : [जे] जो (मुनि) [दंसणणाणचरित्ते] दर्शन, ज्ञान, चरित्र, [तवविणये] तप और विनय में [णिच्चकाल] सदाकाल [सुपसत्था] लीन रहते हैं तथा अन्यो [गुणधराणं] गुणधारक मनुष्यों के [गुणवादी] गुणों का वर्णन करते हैं [एदे] वे [वंदणीया] नमस्कार करने योग्य हैं ।

+ यथाजातरूप को मत्सरभाव से वन्दना नहीं करते, वे मिथ्यादृष्टि -

**सहजुप्पणं रूपं दट्ठं जो मण्णए ण मच्छरिओ
सो संजमपडिवण्णो मिच्छाइट्ठी हवइ एसो ॥२४॥**

अन्वयार्थ : जो [सहजुप्पणं] स्वाभाविक नग्न [रूपं] रूप को [दट्ठं] देखकर उसे [ण] नहीं [मण्णए] मानते [मच्छरिओ] मत्सर भाव करते हैं, [सो] वह [संजमपडिवण्णो] संयमप्राप्त कर भी [मिच्छाइट्ठीहवइएसो] मिथ्यादृष्टि होता है ।

+ इसी को दृढ़ करते हैं -

**अमराण वंदियाणं रूपं दट्ठण सीलसहियाणं
जे गारवं करंति य सम्मत्तविवज्जिया होंति ॥२५॥**

अन्वयार्थ : जिनका नग्न [रूपं] स्वरूप [अमराण] देवों द्वारा [वंदियाणं] वन्दनीय है और जो [सीलसहियाणं] शीलसहित है [जे] जो उन्हें [दट्ठण] देखकर [गारवं] मान से उनकी उपासना नहीं करते वे [सम्मत्त] सम्यक्त्व से [विवज्जिया] रहित [होंति] है ।

+ असंयमी वंदने योग्य नहीं -

**अस्संजदं ण वन्दे वत्थविहीणोवि तो ण वंदिज्ज
दोण्णि वि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि ॥२६॥**

अन्वयार्थ : [अस्संजदं] असंयमी [सो] की [वंदे] वन्दना / नमस्कार [ण] नहीं करना चाहिए, [वत्थविहीणो] वस्त्र रहित होने पर भी (असंयमी) भी [वंदिज्ज] वन्दना/नमस्कार के योग्य [ण] नहीं है, [दोण्णिवि] ये दोनों ही एक [समाणा] समान [होंति] है, दोनों में से [एगोवि] एक भी [संजदो] संयमी [ण] नहीं [होदि] है ।

+ इस ही अर्थ को दृढ़ करते हैं -

**ण वि देहो वंदिज्जइ ण वि य कुलो ण वि य जाइसंजुतो
को वंदमि गुणहीणो ण हु सवणो णेय सावओ होइ ॥२७॥**

अन्वयार्थ : [ण वि] न ही [देहो] शरीर की [वंदिज्जइ] वन्दना करी जाती है, न [कुलो] कुल की वन्दना करी जाती है और न [जाइ] जाति [संजुतो] से युक्त की वन्दना करी जाती है । [को] किस गुणहीन की [वंदमि] वन्दना करू ? क्योंकि [गुणहीणो] गुण से हीन, न तो [सवणो] मुनि है और न ही [सावओ] श्रावक है ।

+ तप आदि से संयुक्त को नमस्कार -

**वंदमि तवसावण्णा सीलं च गुणं च बंभचेरं च
सिद्धिगमणं च तेसिं सम्मत्तेण सुद्धभावेण ॥२८॥**

अन्वयार्थ : मैं [तव] तप [समणा] सहित मुनियों को [वंदामि] नमस्कार करता हूँ ! [तेसिं] उनके [सीलं] शील, [गुणं] गुणों [वंभचेरं] ब्रह्मचर्य [सिद्धि] मोक्ष [गमणं] प्राप्ति के लिए प्रयास सहित, [सम्मत्तेण] श्रद्धापूर्वक तथा [सुद्धभावेण] शुद्ध भावों से वन्दना करता हूँ ।

+ समवसरण सहित तीर्थकर वंदने योग्य हैं या नहीं -

**चउसट्ठि चमरसहिओ चउतीसहि अइसएहिं संजुत्ते
अणवरबहुसत्तहिओ कम्मक्खयकारणणिमित्ते ॥२९॥**

अन्वयार्थ : जो [चउसट्ठिचमरसहिओ] चौसठ चमरो सहित, चौतीस [अइसएहिं] अतिशयों से [संजुत्ते] युक्त है, विहार के समय पीछे चलने वाले [अणुवर] सेवको तथा अन्य [बहु सत्त हिओ] अनेक जीवों का हित करने वाले, तीर्थकर परमदेव को मैं [कम्मक्खय] कर्मों के क्षय में [निमित्त] कारणभूत नमस्कार करता हूँ ।

+ मोक्ष किससे होता है? -

णाणेण दंसणेण य तवेण चरियेण संजमगुणेण चउहिं पि समाजोगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥३०॥

अन्वयार्थ : [णाणेण] सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, [तवेण] सम्यकतप [य] और [चरियेण] सम्यक्चारित्र ये [चउसिंहपि] चार प्रकार के [संजमगुणेण] संयम गुण है, इन चारों के [समाजोगे] संयोग (एकत्रित होने) पर ही [जिणसासणे] जिशासन में [मोक्खो] मोक्ष की प्राप्ति [दिट्ठो] कही है ।

+ ज्ञान आदि के उत्तरोत्तर सारपना -

णाणं णरस्स सारो सारो वि णरस्स होइ सम्मत्तं सम्मत्ताओ चरणं चरणाओ होइ णिव्वाणं ॥३१॥

अन्वयार्थ : [णाणं] ज्ञान [णरस्स] जीव का [सारो] सारभूत है, और ज्ञान की अपेक्षा [सम्मत्तं] सम्यक्त्व [सारोवि] सारभूत [होइ] है क्योंकि [सम्मत्ताओ] सम्यक्त्व से ही [चरणं] चरित्र होता है, [चरणाओ] चरित्र से [णिव्वाणं] निर्वाण की प्राप्ति होती है ।

+ इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं -

णाणम्मि दंसणम्मि य तवेण चरिएण सम्मसहिएण चउण्हं पि समाजोगे सिद्धा जीवा ण सन्देहो ॥३२॥

अन्वयार्थ : [णाणम्मि] ज्ञान, [दंसणम्मि] दर्शन [य] और [सम्मसहिएण] सम्यक्त्व सहित [तवेण] तप, [चरिएण] चारित्र, इन [चउण्हं] चारों का [समाजोगे] समायोग होने से [जीवा] जीव [सिद्धा] सिद्ध हुए हैं, इसमें [सन्देहो] सन्देह [ण] नहीं है ।

+ सम्यग्दर्शनरूप रत्न देवों द्वारा पूज्य -

कल्लाणपरंपरया लहंति जीवा विसुद्धसम्मत्तं सम्मदंसणरयणं अग्घेदि सुरासुरे लोए ॥३३॥

अन्वयार्थ : [जीवा] जीव, [कल्लाण] कल्याणों के [परंपरया] समूह (पंचकल्याण को) को [विसुद्ध] विशुद्ध (निर्दोष) [सम्मत्तं] सम्यक्त्व से [लहंति] प्राप्त करते हैं, [सम्मदंसणरयणं] सम्यग्दर्शन रूप रत्न [अग्घेदि] पूजा जाता है [सुरासुरे] देवों, दानवों (सहित) [लोए] समस्त लोक द्वारा ।

+ सम्यक्त्व का माहात्म्य -

लद्धूण य मणुयत्तं सहियं तह उत्तमेण गोत्तेण लद्धूण य सम्मत्तं अक्खयसोक्खं च मोक्खं च ॥३४॥

अन्वयार्थ : जो [मणुयत्तं] मनुष्य जन्म, [उत्तमेण] उत्तम [गोत्तेण] गोत्र (कुल) की प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ विचार [सहियं] सहित [सम्मत्तं] सम्यक्त्व [य] और ज्ञान [लद्धूण] प्राप्त करता है वह [अक्खय] अक्षय / अविनाशी अनन्त [सुक्खं] सुख [च] एवम [मोक्खं] मोक्ष प्राप्त करता है ।

+ स्थावर प्रतिमा -

विहरदि जाव जिणिंदो सहसट्ठसुलक्खणेहिं संजुत्ते चउतीसअइसयजुदो सा पडिमा थावरा भणिया ॥३५॥

अन्वयार्थ : [सहसट्ठ] एक हजार आठ [सुलक्खणेहिं] शुभ लक्षणों और [चउतीस] ३४ [अइसय] अतिशयों [संजुत्तो] से युक्त [जिणिंदो] जिनेन्द्र भगवान् जब तक यहाँ [विहरदि] विहार करते हैं [जाव] तब तक [सा] उन्हें [थावरा] स्थावर [पडिमा] प्रतिमा [भणिया] कहा गया है ।

+ जंगम प्रतिमा -

बारसविहतवजुत्त कम्मं खविऊण विहिबलेण सं वोसट्टचत्तदेहा णिव्वाणमणुत्तरं पत्त ॥३६॥

अन्वयार्थ : [वारसविह] बारह प्रकार के [तव] तपो से [जुत्ता] युक्त [ऊण] मुनि [वीहि] विधि के [वलेण] बल से [कम्मं] कर्मों का [खवि] क्षय कर [वोसट्ट] दो प्रकार के व्युत्सर्गों -- पद्मासन अथवा कायोत्सर्ग से [देहा] शरीर [चत्त] त्याग कर [णिव्वाणमणुत्तरं] सर्वोत्कृष्ट निर्वाण को प्राप्त होते हैं ।

सूत्र-पाहुड

+ सूत्र का स्वरूप -

अरहंतभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंधियं सम्मं सुत्तत्थमग्गणत्थं सवणा साहंति परमत्थं ॥१॥

अन्वयार्थ : [अरहन्तभासियत्थं] अरिहंत देव द्वारा प्रतिपादित अर्थमय, [गणहरदेवेहिं] गणधर देव द्वारा [सम्मं] सम्यक रूप से / पूर्वापरविरोधरहित [गंधियं] गुथित (गुम्फन किया) तथा [सुत्तत्थं] शास्त्र के [मग्गणत्थं] अर्थ को खोजने वाले, सूत्रों से [सवणा] श्रमण अपने [परमत्थं] परमार्थ को [साहंति] साधते हैं ।

+ सूत्रानुसार प्रवर्तनेवाला भव्य -

सुत्तम्मि जं सुदिट्ठं आइरियपरंपूरेण मग्गेण णाऊण दुविह सुत्तं वट्ठदि सिवमग्ग जो भव्वो ॥२॥

अन्वयार्थ : [सुत्तम्मि] सूत्र (श्रुत) में [जं] जो [सुदिट्ठं] भली प्रकार कहा है उसे [आइरिय] आचार्य [परंपूरेण] परंपरायुक्त [मग्गेण] मार्ग (क्रम) से , [दुविहसुत्तं] दो प्रकार के सूत्र (शब्दमय और अर्थमय) [णाऊण] जानकर [सिवमग्ग] मोक्ष मार्ग में जो [वट्ठइ] प्रवृत्त होता है वह [भव्वो] भव्य है ।

+ सूत्र-प्रवीण के संसार नाश -

सुत्तं हि जाणमाणो भवस्स भवणासणं च सो कुणदि सूई जहा असुत्त णासदि सुत्तेण सहा णो वि ॥३॥

अन्वयार्थ : [भवस्स] जो भव्य [सुत्तं] सूत्रों / शास्त्रों को यथार्थ में [जाणमाणो] जानता है, मानो [सो] वही चतुर्गति रूप अपने [भव] संसार को [णासणं] नष्ट [कुणदि] करता है [जहा] जिस प्रकार [असुत्ता] डोरी के बिना [सूई] सूई [णासदि] खो जाती है उसी प्रकार [सुत्ते] सूत्रों / शास्त्रों [सहा] के साथ [णोवि] बिना भी अनभिज्ञ मनुष्य भी नष्ट / संसार में गुम हो जाता है ।

+ सूई का दृष्टान्त -

पुरिसो वि जो ससुत्ते ण विणांसइ सो गओ वि संसारे सच्चेदण पच्चक्खं णासदि तं सो अदिस्समाणो वि ॥४॥

अन्वयार्थ : जो [पुरिसोवि] पुरुष [ससुत्तो] जिनागम सहित है [सो] वह [संसारे] संसार में [गतोऽपि] रहकर भी [ण विणांसइ] नष्ट नहीं होता है । अपना रूप [सोअदिस्समाणो] अदृश्यमान / अप्रसिद्ध [तं] होने पर भी [पच्चक्खं] प्रत्यक्ष

[सच्चेयण] स्वात्मानुभव से संसार का [णसदि] नाश करते हैं।

+ सूत्र का जानकार सम्यक्त्वी -

सुत्तत्थं जिणभणियं जीवाजीवादिबहुविहं अत्थं
हेयाहेयं च तहा जो जाणइ सो हु सद्धिटी ॥५॥

अन्वयार्थ : जो [जिणभणियं] जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे [सुत्तत्थं] सूत्रों के अर्थों को, [जीवाजीवादि] जीवाजीवादि [बहुविहं] अनेक प्रकार के [अत्थं] पदार्थों को [च तहा] और उनमें तथा [हेयाहेयं] हेय उपादेय को [जाणइ] जानता है, [सो हु सद्धिटी] वह सम्यग्दृष्टि है।

+ दो प्रकार से सूत्र-निरूपण -

जं सुत्तं जिणउत्तं ववहारो तह य जाण परमत्थो
तं जाणिऊण जोई लहइ सुहं खवइ मलपुंजं ॥६॥

अन्वयार्थ : [जिण] जिनेन्द्र भगवान् ने [जं] जो [सुत्तं] सूत्र [उत्तं] कहे हैं [तह] उन्हें [ववहारो] व्यवहार [य] और [परमत्थो] निश्चय रूप [जाण] जानो। [तं जाणिऊण] उसे जानकर [जोई] योगी [खवइ मलपुंजं] पापपुंज को नष्ट कर [सुहं] आत्मसुख [लहइ] प्राप्त करते हैं।

+ सूत्र और पद से भ्रष्ट मिथ्यादृष्टि -

सुत्तत्थपयविणट्ठो मिच्छादिट्ठो हु सो मुणेयव्वो
खेडे वि ण कायव्वं पाणिप्पत्तं सचेलस्स ॥७॥

अन्वयार्थ : [सुत्तत्थ] सूत्रार्थ और [पय] पदों से [विणट्ठो] विमुख को [मिच्छादिट्ठि] मिथ्यादृष्टि [हु] ही [मुणेयव्वो] जानो। [सचेलस्स] वस्त्र सहित को [खेडे वि] खेलखेल में भी, [पाणिप्पत्तं] पाणिपात्र से आहार [ण कायव्वं] नहीं देना चाहिये।

+ जिनसूत्र से भ्रष्ट हरि-हरादिक भी हो तो भी मोक्ष नहीं -

हरिहरतुल्लो वि णरो सगं गच्छेइ एइ भवकोडी
तह वि ण पावइ सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥८॥

अन्वयार्थ : वह (सूत्र के पदों और अर्थों से भ्रष्ट) [हरिहर] विष्णु और रूद्र [तुल्लोवि] समान [णरो] नर [वि] भी [सगं] स्वर्ग तक ही [गच्छेइ] जाता है [भवकोडी] करोड़ों भव धारण कर [संसारत्थो] संसार में [पुणो भणिदो] बार बार भ्रमण करता है, [तहवि] तथापि [सिद्धिं] मोक्ष [ण] नहीं [पावइ] प्राप्त करता है।

+ जिनसूत्र से च्युत, स्वच्छंद प्रवर्तते हैं, वे मिथ्यादृष्टि -

उक्किट्ठसीहचरियं बहुपरियम्मो य गरुयभारो य
जो विहरइ सच्छंदं पावं गच्छदि होदि मिच्छतं ॥९॥

अन्वयार्थ : जो मुनि [सिह] सिंह समान निर्भय होकर [उक्किट्ठ] उत्कृष्ट [चरियं] चारित्र का पालन करता है, [बहु] अनेक प्रकार के [परियम्मो] व्रत, उपवासादि करता है, [य] तथा [गरुयभारो य] गुरुभार (संघ के नायक, आचार्यपद) वहन करता है किन्तु [सच्छंदं] जिनसूत्र से च्युत होकर स्वच्छंद [विहरइ] प्रवर्तता है वो [पावं] पाप [गच्छदि] को प्राप्त होता है, [होदि मिच्छतं] मिथ्यादृष्टि होता है।

+ जिनसूत्र में मोक्षमार्ग ऐसा -

णिच्चेलपाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहिं
एक्को वि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे ॥१०॥

अन्वयार्थ : [परमजिणवरिंदेहिं] परम जिनेन्द्र देव ने [णिच्चेल] निर्गन्ध दिगम्बर(वस्त्र मात्र के त्यागी) मुद्राधारी मुनि को ही [पाणिपत्तं] पाणिपात्र (अंजलि के पात्र) में आहार लेने का [उवइट्ठं] उपदेश दिया है। [एक्कोहि] एक यही [मोक्खमग्गो]

मोक्ष मार्ग है [सेसा] अन्य [य सव्वे] और सभी [अमग्गया] अमार्ग है (मोक्षमार्ग नहीं है) ।

+ मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति -

जो संजमेसु सहिओ आरंभपरिग्गहेसु विरओ वि
सो होइ वंदणीओ ससुरासुरमाणुसे लोए ॥११॥

अन्वयार्थ : जो [संजमेसु सहिओ] संयम सहित [आरंभपरिग्गहेसु विरओ] आरंभ तथा परिग्रह से विरत (त्यागी) [वि] भी होते हैं [सो] वही [लोए] लोक में [सुरासुरमाणुसे] सुर, असुर और मनुष्यों के द्वारा [वंदणीओ] वन्दनीय [होइ] है ।

+ उनकी प्रवृत्ति का विशेष -

जे बावीसपरीसह सहंति सत्तीसएहिं संजुत्त
ते होंति वंदणीया कम्मक्खयणिज्जरासाहू ॥१२॥

अन्वयार्थ : जो (मुनि) [वीसपरिसह] बाईस परिषह [सहंति] सहन करते हैं, [सत्तीसएहिं] सैकड़ों शक्ति [संजुत्ता] युक्त हैं [ते] वे [वंदणीया] वन्दनीय हैं, [कम्मक्खय] कर्मक्षय व [णिज्जरासाहू] निर्जरा करने में कुशल हैं ।

+ शेष सम्यग्दर्शन ज्ञान से युक्त वस्तुधारी इच्छाकार योग्य -

अवसेसा जे लिंगी दंसणणाणेण सम्म संजुत्त
चेलेण य परिगहिया ते भणिया इच्छणिज्ज य ॥१३॥

अन्वयार्थ : (निर्गन्थ दिग्म्बर के अतिरिक्त) [अवसेसा] शेष [जे] जो [लिंगी] लिंग धारी, (ऐलक, क्षुल्लकादि) [सम्म] सम्यक [दंसणणाणेण] दर्शन, सम्यग्ज्ञान [संजुत्ता] से युक्त [परिगहिया] परिग्रह सहित [य] और [चेलेण] वस्तुधारी हैं [ते] वे [इच्छणिज्जाय] इच्छाकार करने योग्य [भणिया] कहे गये हैं ।

+ इच्छाकार योग्य श्रावक का स्वरूप -

इच्छायारमहत्यं सुत्तठिओ जो हु छंडए कम्मं
ठाणे द्वियसम्मत्तं परलोयसुहंकरो होदि ॥१४॥

अन्वयार्थ : जो [इच्छायार] इच्छाकार के [महत्यं] महान अर्थ को जानता है वह [सुत्तठिओ] सूत्र-आगम में स्थित है आगम जानता है, वह [कम्मं] आरम्भ आदि कर्मों को [छंडए] त्याग करता है और [ठाणे] श्रावक के स्थान में [सम्मत्तं] सम्यक्त्व पूर्वक [द्विय] स्थित है [परलोय] जो परलोक में [सुहंकरो] सुखकारी [होई] होता है ।

+ इच्छाकार के अर्थ को नहीं जान, अन्य धर्म का आचरण से सिद्धि नहीं -

अह पुण अप्पा णिच्छदि धम्माइं करेइ णिरवसेसाइं
तह वि ण पावदि सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥१५॥

अन्वयार्थ : [अथ पुण] सो जिसे [अप्पा] आत्मा [णिच्छदि] नहीं इच्छता (आत्मा की भावना नहीं करता), वह [निरवसेसाइं] बाकी समस्त [धम्माइं करेदि] धार्मिक अनुष्ठान -- दान, पूजादि करता हो, [तहवि] फिर भी [ण पावदि] सिद्धि, सिद्धि नहीं प्राप्त करता, वह [पुणो] फिर [संसारत्थो] संसारी ही [भणिदो] कहा गया है ।

+ इस ही अर्थ को दृढ़ करके उपदेश -

एएण कारणेण य तं अप्पा सद्वहेह तिविहेण
जेण य लहेह मोक्खं तं जाणिज्जह पयत्तेण ॥१६॥

अन्वयार्थ : [एएण] इन इन [कारणेण] कारणों से [य] और [तं] उस [अप्पा] आत्मा का [तिविहेण] मन, वचन, काय से [सद्वहेह] श्रद्धान करो तथा [तं] उसे ही [जाणिज्जह पयत्तेण] प्रयत्नपूर्वक जानो [जेण] जिससे [लेहह मोक्खं] मोक्ष प्राप्त हो सके ।

+ जिनसूत्र के जानकार मुनि का स्वरूप -

वालग्गकोडिमेत्तं परिगहगहणं ण होइ साहूणं
भुंजेइ पाणिपत्ते दिण्णण्णं इक्कठाणम्मि ॥१७॥

अन्वयार्थ : [साहूणं] साधु के [वालग्गकोडिमेत्तं] बाल के अग्रभागमात्र भी [परिगहगहणं] परिग्रह ग्रहण [ण] नहीं [होइ] है उन्हे [दिण्णण्णं] अन्न के दिये हुए [भुंजेइ] आहार को [पाणिपत्ते] करपात्र मे [इक्कठाणम्मि] एक स्थान पर लेना चाहिये ।

+ अल्प परिग्रह ग्रहण में दोष -

जहजायरूवसरिसो तिलतुसमेत्तं ण गिहदि हत्थेसु
जइ लेइ अप्पबहुयं तत्ते पुण णिग्गोदम् ॥१८॥

अन्वयार्थ : [जहजाय] तत्काल उत्पन्न बालक [सरिसो] समान (नग्न दिगम्बर मुनि) [तिलतुसमित्तं] तिल की भूसी मात्र भी (परिग्रह) [हत्थेसु] हाथो से [ण गिहदि] ग्रहण नहीं करते । [जइ] यदि [अप्पबहुयं] थोडा बहुत [लेइ] ग्रहण करते है [तत्तो] तो [पुण] पुनः [णिग्गोदं] निगोद [जाइ] जाते है ।

+ इस ही का समर्थन करते हैं -

जस्स परिगहगहणं अप्पं बहुयं च हवइ लिंगस्स
सो गरहिउ जिणवयणे परिगहरहिओ णिरायारो ॥१९॥

अन्वयार्थ : [जस्स] जिस [लिंगस्स] वेष मे [अप्पंबहुयं] थोड़ा या बहुत [परिगह] परिग्रह ग्रहण [हवइ] होता है [सो गरहिउ] वह निन्दनीय है, [जिणवयणे] जिनवचन मे [परिगहरहिओ] परिग्रह रहित को ही [निरायारो] मुनि बताया है ।

+ जिनवचन में ऐसा मुनि वन्दने योग्य -

पंचमहव्वयजुत्ते तिहिं गुत्तिहिं जो स संजदो होई
णिगंथमोक्खमग्गो सो होदि हु वंदणिज्जे य ॥२०॥

अन्वयार्थ : [पंचमहव्वयजुत्तो] पंचमहाव्रतों से युक्त, [तिहिं गुत्तिहिं] तीन गुप्तियों सहित ही [संजदो] संयमी/संयत/मुनि [होई] है [सो हु] वही [णिगंथमोक्खमग्गो] निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग में [वंदणिज्जे] वन्दनीय [होदि] है ।

+ दूसरा भेष उत्कृष्ट श्रावक का -

दुइयं च उत्त लिंगं उक्किट्ठं अवरसावयाणं च
भिक्खं भमेइ पत्ते समिदीभासेण मोणेण ॥२१॥

अन्वयार्थ : [च] और [दुइयं] दूसरा [लिंगं] लिंग (वेष) [उक्किट्ठं] उत्कृष्ट / श्रेष्ठ [च] और [अवर] अविरक्त [सावयाणं] श्रावकों का [उत्त] कहा गया है । वे [पत्तो] पात्र लिए [भिक्खं भमेइ] भिक्षा के लिये भ्रमण करते है, [समिदीभासेण] भाषा समिति रूप बोलते है या [मोणेण] मौन रहते हैं ।

+ तीसरा लिंग स्त्री का -

लिंगं इत्थीण हवदि भुंजइ पिंड सुएयकालम्मि
अज्जिय वि एक्कवत्था वत्थावरणेण भुंजेदि ॥२२॥

अन्वयार्थ : तीसरा [लिंगं] लिंग [इत्थीणं] स्त्री का [हवदि] होता है इसकी धारक स्त्रीयां [एयकालम्मि] एक दिन में [पिंडं] एकबार [भुंजइ] भोजन (आहार) ग्रहण करतीं हैं । [अज्जिय वि] आर्यिका भी [एक्क वत्था] एक ही वस्त्र धारण करे और [वत्थावरणेण] वस्त्र के आवरण सहित [भुंजेइ] भोजन करे ।

+ वस्त्र धारक के मोक्ष नहीं -

ण वि सिज्झदि वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो

णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥२३॥

अन्वयार्थ : [जिणसासणे] जिनशासन में [वत्थधरो] वस्त्रधारी होने से [सिज्झइ] सिद्धि प्राप्त [ण] नहीं होती, [जइवि] चाहे वह [तित्थरो] तीर्थकर [होइ] हो । [णग्गो] नग्न (दिगम्बरत्व) ही [विमोक्खमग्गो] विशिष्ट मोक्ष-मार्ग है [सेसा] शेष [सव्वे] सब [उम्मग्गया] उन्मार्ग है ।

+ स्त्रियों को दीक्षा नहीं है इसका कारण -

लिंगम्मि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु

भणिओ सुहुमो काओ तासिं कह होइ पव्वज्ज ॥२४॥

अन्वयार्थ : [इत्थीणं] स्त्रियों की [लिंगम्मि] योनि में, [यथणंतरे] स्तनों के बीच में वक्षस्थल, [णाहिकक्खदेसेसु] नाभि और कांख के क्षेत्र में [सुहुमोकाओ] सूक्ष्म शरीरी जीव [भणिओ] कहे गये हैं [तासिं] अतः उनकी [पव्वज्जा] दीक्षा [कथं] कैसे [होइ] हो सकती है ?

+ दर्शन से शुद्ध स्त्री पापरहित -

जइ दंसणेण सुद्धा उत्त मग्गेण सावि संजुत्त

घोरं चरिय चरित्तं इत्थीसु ण २पव्वया भणिया ॥२५॥

अन्वयार्थ : [जइ] यदि [उत्ता] उक्त / स्त्री [दंसणेण] सम्यग्दर्शन से [सुद्धा] शुद्ध है तब [वि] भी [सा] वह [मग्गेण] मार्ग से [संजुत्ता] युक्त है, वह [घोरं चरिय] कठिन आचरण कर [चरित्तं] चारित्रवान [इत्थीसु] स्त्री को [ण पव्वया] पापरहित [भणिया] कहा है ।

चित्तसोहि ण तेसिं ढिल्लं भावं तहा सहावेण

विज्जदि मासा तेसिं इत्थीसु ण संकया झाणा ॥२६॥

अन्वयार्थ : [तेसिं] उनके (स्त्रियों के) [चित्ता] चित्त की [सोहि] शुद्धता [ण] नहीं है, [तहा] तथा [सहावेण] स्वभाव से [ढिल्लं] शिथिल हैं, [मासातेसिं] प्रत्येक माह [इत्थीसु] स्त्रियों के [विज्जदि] रूधिरस्राव होता है जिससे [ण संकया] निर्भयतापूर्वक उनका [झाणं] ध्यान नहीं होता ।

+ सूत्रपाहुड का उपसंहार -

गाहेण अप्पगाहा समुद्दसलिले सचेलअत्थेण

इच्छा जाहु णियत्त ताह णियत्तइं सव्वदुक्खाइं ॥२७॥

अन्वयार्थ : जैसे [समुद्द] समुद्र में से [सलिले] जल को (प्रचुर मात्रा होने पर भी) [स] अपने [चेल] कपड़े [अत्थेण] धोने के लिए [अप्पगाहा] अल्प मात्रा में जल [गाहेण] लेते हैं उसी प्रकार [जाहु] जिनकी [इच्छा] इच्छाओं की [णियत्ता] निवृत्ति हो गई है [ताह] उनके [सव्वदुक्खाइं] समस्त दुःख [णियत्ताइं] दूर हो गये हैं ।

चारित्र-पाहुड

+ नमस्कृति तथा चारित्र-पाहुड लिखने की प्रतिज्ञा -

सव्वण्हु सव्वदंसी णिम्मोहा वीयराय परमेट्ठी
वंदित्तु तिजगवंदा अरहंता भव्वजीवेहिं ॥१॥
णाणं दंसण सम्मं चारित्तं सोहिकारणं तेसिं
मोक्खाराहणहेउं चारित्तं पाहुडं वोच्चे ॥२॥ युग्मम्

अन्वयार्थ : [सव्वण्ह] सर्वज्ञ, [सव्वदंसी] सर्वदर्शी, [णिम्मोहा] निर्मोह, [वीयराय] वीतरागी, [परमेट्ठी] परमेष्ठी; [तिजगवंदा] त्रिजगत द्वारा वन्दित, और [भव्वजीवेहिं] भव्वजीवों द्वारा वन्दनीय, [अरहंता] अरिहंत भगवान् को तथा [सोहि-कारणं] उसका कारण [णाणं दंसण सम्मं चारित्तं] सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र को [वंदित्तु] नमस्कार कर, [तेसिं] उनमें [मुक्खा] मोक्ष [आराहण] प्राप्ति में [हेउं] कारण भूत [चारित्तपाहुडं] चारित्र पाहुड को [वोच्चे] कहता हूँ।

+ सम्यग्दर्शनादि तीन भावों का स्वरूप -

जं जाणइ तं णाणं जं पेच्छइ तं च दंसणं भणियं
णाणस्स णिच्छियस्स य समवण्णा होइ चारित्तं ॥३॥

अन्वयार्थ : [जं जाणइ] जो जानता है [तं णाणं] वह ज्ञान है [च] और [जं पेच्छइ] जो प्रतीति करता है [तं दंसणं] वह दर्शन [भणियं] कहा गया है [णाणस्स] ज्ञान के [य] और [णिच्छियस्स] दर्शन के [सवण्णाहोइ] सहयोग से [चारित्तं] चारित्र होता है।

+ जो तीन भाव जीव के हैं उनकी शुद्धता के लिए चारित्र दो प्रकार का कहा है -

एए तिण्णि वि भावा हवन्ति जीवस्स अक्खयामेया
तिण्हं पि सोहणत्थे जिणभणियं दुविहं चारित्तं ॥४॥

अन्वयार्थ : [एए तिण्णि] ये तीनों [ज्ञान, दर्शन और चारित्र] [वि भावा] ही भाव / परिणाम [जीवस्स] जीव / आत्मा के [अक्खया] अक्षय / अविनश्वर और [अमेया] अमर्यादित / अनन्तानन्त [हवन्ति] होते हैं। [तिण्हं] इन तीनों की [पि] ही [सोहणत्थे] शुद्धि के लिए, [दुविहा चारित्तं] दो प्रकार का चरित्र [जिणभणियं] जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है।

+ दो प्रकार का चारित्र -

जिणणाणदिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं
बिदियं संजमचरणं जिणणाणसदेसियं तं पि ॥५॥

अन्वयार्थ : [तं पि] वह भी [जिण णाण] जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा [सदेसियं] निरूपित [पढमं] पहिला [जिण णाण दिट्ठि] वीतराग सर्वज्ञ देव के ऊपर ज्ञान और श्रद्धान से [सुद्धं] शुद्ध [सम्मत्तचरण] सम्यक्त्वचरण [चारित्तं] चारित्र और [विदियं] दूसरा [संजमचरणं] संयमचरण चरित्र है।

+ सम्यक्त्वचरण चारित्र के मल दोषों का परिहार -

एवं चिय णाऊण य सव्वे मिच्छत्तदोस संकाइ
परिहर सम्मत्तमला जिणभणिया तिविहजोएण ॥६॥

अन्वयार्थ : [एवं] और [चिय] ऐसा [णाऊण] जानकार [जिण भणिया] जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कहे हुए और [सम्मत्त] सम्यक्त्व में [मला] मल उतपन्न करने वाले [य] ऐसे [सव्वे] सर्व [मिच्छत्त] मिथ्यात्व [संकाई] शंकादि [दोस] दोषों का [तिविह] तीनों प्रकार के [जोएण] योग (मन वचन काय) से [परिहरि] परित्याग करो।

+ सम्यक्त्व के आठ अंग -

णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठी य
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणा य ते अट्ठ ॥७॥

अन्वयार्थ : [णिस्संकिय] निशंकित, [णिक्कंखि] निःकांक्षित, [णिव्विदिगिंछा] निर्विचिकित्सा, [अमूढदिट्ठी] अमूढ-दृष्टि, [उवगूहण] उपगूहन, [ठिदिकरणं] स्थितिकरण, [वच्छल्ल] वात्सल्य [य] और [पहावणा] प्रभावना सम्यक्त्व के [ते अट्ठ] ये

+ इसप्रकार पहिला सम्यक्त्वाचरण चारित्र कहा -

तं चेव गुणविसुद्धं जिणसम्मत्तं सुमुखठाणाए
जं चरइ णाणजुत्तं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं ॥८॥

अन्वयार्थ : [तं] उन निःशंकितादि [चेव गुण] गुणों से [विसुद्धं] विशुद्ध [जिणसम्मत्तं] जिनेन्द्र भगवान् के ऊपर श्रद्धा है, वह [सु] उत्तम [मुख] मोक्ष [थाणाय] स्थान के लिए होता है [जं] जिसका [चरइ] आचरण कर प्रथम [सम्मत्तचरण] सम्यक्त्वचरण [चारित्तं] चारित्र होता है ।

+ सम्यक्त्वाचरण चारित्र को अंगीकार करके संयमचरण चारित्र को अंगीकार करने की प्रेरणा -

सम्मत्तचरणसुद्धा संजमचरणस्स जइ व सुपसिद्धा
णाणी अमूढदिट्ठी अचिरे पावंति णिव्वाणं ॥९॥

अन्वयार्थ : [सम्मत्तचरणसुद्धा] सम्यक्त्वचरण से शुद्ध / निर्दोष सम्यग्दर्शन के धारक [णाणि] सम्यग्ज्ञानी और [अमूढदिट्ठी] अमूढ/विवेकपूर्ण दृष्टि युक्त है, [जइ] उन्हें [सुपसिद्धा] अतिशय प्रसिद्ध [संजमचरणस्स] संयमचरण से शुद्ध हो [अचिरे] अक्षय [णिव्वाणं] निर्वाण [पावंति] प्राप्त होता है ।

+ सम्यक्त्वाचरण से भ्रष्ट और वे संयमाचरण सहित को मोक्ष नहीं -

सम्मत्तचरणभट्ठा संजमचरणं चरंति जे वि णरा
अण्णाणणाणमूढा तह वि ण पावंति णिव्वाणं ॥१०॥

अन्वयार्थ : जो पुरुष सम्यक्त्वाचरण चारित्र से भ्रष्ट है और संयम का आचरण करते हैं तो भी वे अज्ञान से मूढ़दृष्टि होते हुए निर्वाण को नहीं पाते हैं ।

+ सम्यक्त्वाचरण चारित्र के चिह्न -

वच्छल्लं विणएण य अणुकंपाए सुदाणदच्छाए
मग्गगुणसंसणाए अवगूहण रक्खणाए य ॥११॥
एएहिं लक्खणेहिं य लक्खिज्जइ अज्जवेहिं भावेहिं
जीवो आराहंतो जिणसम्मत्तं अमोहेण ॥१२॥

अन्वयार्थ : [अमोह] मोह रहित अथवा अमोघ (सफल जन्म का धारक) मनुष्य [वच्छल्लं] वात्सल्य, [विणएण] विनय, अनुकम्पा, [सुदाण] उत्तम दान देने में [दच्छाए] इच्छुक मोक्ष [मग्गगुण] मार्ग के गुणों में [संसणाए] संशय नहीं करने वाला / उनकी प्रशंसा करने वाला, [अवगूहण] उपगूहन, [य] और [रक्खणाए] स्थितिकरण, [अज्जवेहिं] अकुटिल [भावेहिं] परिणामी भावी, [एएहिं] इन-इन [लक्खणेहिं] लक्षणों [य] और [लक्खिज्जइ] लक्षणों से युक्त [जीवो] मनुष्य [जिणसम्मत्तं] जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित सम्यक्त्व का [आराहंतो] आराधक है ।

+ सम्यक्त्व कैसे छूटता है? -

उच्छाहभावणासंपसंसेवा कुदंसणे सद्धा
अण्णाणमोहमग्गे कुव्वंतो जहदि जिणसम्मं ॥१३॥

अन्वयार्थ : जो [उच्छाह] उत्साह / रूचि [भावणा] भावना पूर्वक [कुदंसणे] मिथ्यामत की [सद्धा] श्रद्धा [सं] उसकी [पसंस] प्रशंसा, और [अण्णाण] अज्ञानी जीवों के समान [मोह] मोघ / मोह [मग्गे] मार्ग में श्रद्धान रखता है वह [जिणसम्मं] जिनसम्यक्त्व को [जहदि] छोड़ [कुव्वंतो] देता है ।

+ सम्यक्त्व से च्युत कब नहीं होता है? -

उच्छाहभावणासंपसंसेवा सुदंसणे सद्धा ण जहदि जिणसम्मत्तं कुव्वंतो णाणमग्गेण ॥१४॥

अन्वयार्थ : जो [णाणमग्गेण] ज्ञान मार्ग अर्थात् सम्यग्ज्ञान द्वारा [सु दंसणे] सम्यग्दृष्टियों गुरुओं की [उच्छाह] उत्साह/रूचि पूर्वक [भावणा] भावना रखता है, [सं] उनकी, [पसंस] प्रशंसा, सेवा और [सद्धा] श्रद्धान करता है वह [जिणसम्मत्तं] जिनसम्यक्त्व को नहीं [कुव्वंतो] छोड़ता ।

+ अज्ञान मिथ्यात्व कुचारित्र के त्याग का उपदेश -

अण्णाणं मिच्छत्तं वज्जह णाणे विसुद्धसम्मत्ते अह मोहं सारंभं परिहर धम्मे अहिंसाए ॥१५॥

अन्वयार्थ : [णाणे] सम्यग्ज्ञान, होने पर [अण्णाणं] अज्ञान को और [विसुद्ध सम्मत्ते] विशुद्ध सम्यग्दर्शन होने पर [मिच्छत्तं] मिथ्यात्व को [वज्जहि] छोड़ो [अह] और [अहिंसाए] अहिंसामयी [धम्मे] धर्म होने पर [सारंभं] आरम्भ सहित [मोहं] मोह को [परिहर] छोड़ो ।

+ फिर उपदेश करते हैं -

पव्वज्ज संगचाए पयट्ट सुतवे सुसंजमे भावे होइ सुविसुद्धझाणं णिम्मोहे वीयरायत्ते ॥१६॥

अन्वयार्थ : [संगचाए] वस्त्रादि [पव्वज्ज] परिग्रहों का त्याग कर दीक्षा लेकर [सुसंजमे] उत्तम संयम [भावे] भाव से [सुतवे] उत्कृष्ट तप मे [पयट्ट] प्रवृत्त हो । [णिम्मोहे] निर्मोही को ही [वीयरायत्ते] वीतरागी होने पर [सुविसुद्धझाणं] उत्तम विशुद्धध्यान [होइ] होता है ।

+ यह जीव अज्ञान और मिथ्यात्व के दोष से मिथ्यामार्ग में प्रवर्तन करता है -

मिच्छादंसणमग्गे मलिणे अण्णाणमोहदोसेहिं वज्झंति मूढजीवा मिच्छत्तबुद्धिउदएण ॥१७॥

अन्वयार्थ : [अण्णाण] अज्ञान और [मोह] मोह [दोसेहिं] दोष से [मलिणे] मलिन [मिच्छत्ता] मिथ्यात्व [बुद्धिउदएण] बुद्धि के उदय में [मिच्छादंसणमग्गे] मिथ्यामार्ग पर चलने वाले [मूढजीवा] मूर्ख जीव [वज्झंति] बंधते (पाप कर्म से) हैं ।

+ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-श्रद्धान से चारित्र के दोष दूर होते हैं -

सम्मद्दंसण पस्सदि जाणदि णाणेण दव्वपज्जया सम्मेण य सद्दहदि य परिहरदि चरित्तजे दोसे ॥१८॥

अन्वयार्थ : [सम्मद्दंसण] सम्यग्दृष्टि दर्शन [णाणेण] ज्ञान से [दव्व पज्जया] द्रव्यों और उनकी पर्याय को भली प्रकार [पस्सदि] देखता [जाणदि] जानता है [य] और [सम्मेण] सम्यक्त्व-गुण से उनका [सद्दहदि] श्रद्धान करता है [य] और [चरित्तजे] चारित्र सम्बन्धी [दोसे] दोषों को [परिहरदि] दूर करता है ।

+ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से शीघ्र मोक्ष -

एए तिण्णि वि भावा हवन्ति जीवस्स मोहरहियस्स णियगुणमाराहंतो अचिरेण य कम्म परिहरइ ॥१९॥

अन्वयार्थ : [एए तिण्णि वि] ये तीनों ही [भावा] भाव (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) [मोहरहियस्स] मोह रहित [जीवस्स] जीव के [हवन्ति] होते हैं । [णिय] निज [गुणमाराहंतो] गुणों की आराधना करने वाला [अचिरेण वि] अल्प काल में ही [कम्म] कर्मों का [परिहरइ] क्षय कर लेता है ।

+ सम्यक्त्वाचरण चारित्र के कथन का संकोच करते हैं -

संखिज्जमसंखिज्जगुणं च संसारिमेरुमत्तं णं सम्मत्तमणुचरंता करेति दुक्खक्खयं धीरा ॥२०॥

अन्वयार्थ : [सम्मत्तम] सम्यक्त्व का पालन करने वाले [च] और [अणु चरंता] चारित्र का पालन करने वाले [संखिज्जम] संख्यात गुणी [असंखिज्जगुणं] असंख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा [करेति] करते हुए [धीरा] धैर्यपूर्वक [दुक्खक्खयं] दुखों का क्षय करते हैं । संसारी जीवों से यह निर्जरा [मेरु] मेरु के [मिता] बराबर है ।

+ संयमाचरण चारित्र -

दुविहं संजमचरणं सायारं तह हवे णिरायारं सायारं २सगंथे परिग्गहा रहिय खलु णिरायारं ॥२१॥

अन्वयार्थ : [संजमचरणं] संयम / चारित्राचार के [दुविहं] दो भेद [सायारं] सागर [तह] और [णिरायारं] निरागार [हवे] होते हैं । सागर चारित्राचार [सगंथे] परिग्रह सहित (गृहस्थ) के और निरागार चारित्राचार [परिग्गहा रहिय] परिग्रह रहित (मुनि) का होता है ।

+ सागार संयमाचरण -

दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त रायभत्ते य बंभारंभापरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य ॥२२॥

अन्वयार्थ : [दंसण] १-दर्शन, [वय] २-व्रत, [सामाइय] ३-सामायिक, [पोसह] ४-प्रोषध, [सचित्त] ५-सचित्तत्याग, [राय भत्ते] ६-रात्रीमुक्तीत्याग, [वंभा] ७-ब्रह्मचर्य, [आरंभ] ८-आरम्भत्याग, [परिग्गह] ९-परिग्रहत्याग, [अणुमण] १०-अनुमति त्याग [य] और [उद्दिट्ठ] ११-उद्दिष्ट त्याग, [देसविरदो] देशविरत अथवा सागर चारित्राचार है ।

+ इन स्थानों में संयम का आचरण किसप्रकार से है? -

पंचेव णुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि सिक्खावय चत्तरि य संजमचरणं च सायारं ॥२३॥

अन्वयार्थ : [संजमचरणं] संयमचरण के [सायारं] सागर-चारित्र में [पंचेवणुव्वयाइं] पांच अणुव्रतादि [तह] तथा [तिण्णि] तीन [गुणव्वयाइं] गुणव्रत और [चत्तरि] चार [सिक्खावय] शिक्षाव्रत [हवंति] होते हैं ।

+ पाँच अणुव्रतों का स्वरूप -

थूले तसकायवहे थूले मोषे अदत्तथूले य परिहारो परमहिला परिग्गहारंभपरिमाणं ॥२४॥

अन्वयार्थ : पांच अणुव्रत -- [थूलेतसकाय] स्थूल-त्रस काय जीवों का [वहे] वध, स्थूल [मोसे] असत्य कथन, [तितिक्खथूले] स्थूल चौर्य [य] और [परपिम्मे] पर स्त्री का [परिहारो] त्याग तथा [परिग्गहारंभ] परिग्रह और आरम्भ का [परिमाणं] परिमाण है ।

+ तीन गुणव्रत -

दिसिविदि सिमाण पढमं अणत्थदंडस्स वज्जणं बिदियं भोगोपभोगपरिमा इयमेव गुणव्वया तिण्णि ॥२५॥

अन्वयार्थ : [दिसिविदिसि] दिशाओं (उत्तर / दक्षिण / पूर्व / पश्चिम) तथा विदिशाओं (ऐशान, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, उर्ध्व और अधो) में गमन का [माण] परिमाण (सीमा निर्धारित) करना [पढमं] प्रथम, [अणत्थदंडस्स] अनर्थदण्ड (हिंसादान, अपध्यान, दुश्रुती, पापोपदेश और प्रमादचर्या) [वज्जणं] का त्याग करना [विदियं] दूसरा, और भोग और उपभोग का [परिमा] परिमाण (सीमा निर्धारित) करना [इयमेव] इसप्रकार तीसरा गुण व्रत है ।

+ चार शिक्षाव्रत -

सामाइयं च पढमं बिदियं च तहेव पोसहं भणियं तइयं च अतिहिपुज्जं चउत्थ सल्लेहणा अंते ॥२६॥

अन्वयार्थ : [सामाइयं] सामायिकी प्रथम, [च] और [पोसहं] प्रोषधोपवास [विदीयं] दूसरा, [अतिहिपुज्जं] अतिथि-पूज्य (मुनियों को नवधा भक्ति से आहारादि देना) [तइयं] तीसरा और [सल्लेहणा] सल्लेखना - [अंते] अंत में मृत्यु के समय (शरीर को कषायों को कृष करते हुए त्यागना) [चउत्थ] चौथा शिक्षाव्रत [भणियं] कहा है ।

+ यतिधर्म -

एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं सुद्धं संजमचरणं जइधम्मं णिक्कलं वोच्चे ॥२७॥

अन्वयार्थ : [एवं] इस प्रकार [सावयधम्मं] श्रावक धर्म [सयलं] सकल (परिग्रह सहित) [संजमचरणं] संयमचरण चरित्रासार [उदेसियं] उपदेशित है, अब [सुद्धं] शुद्ध [णिक्कलं] निकल (परिग्रह रहित) [जइधम्मं] मुनिधर्म चारित्रसार [वोच्चे] कहंगा ।

+ यतिधर्म की सामग्री -

पंचेंदियसंवरणं पंच वया पंचविसकिरियासु पंच समिदि तय गुत्ती संजमचरणं णिरायारं ॥२८॥

अन्वयार्थ : [पंचेंदियसंवरणं] पाँच इन्द्रियों का संवर, [पंच वया] पाँच व्रत - ये [पंचविसकिरियासु] पच्चीस क्रिया के सद्भाव होने पर होते हैं, [पंच समिदि] पाँच समिति और [तय गुत्ती] तीन गुप्ति ऐसे [णिरायारं] निरागार [संजमचरणं] संयमचरण चारित्र होता है ॥२८॥

+ पाँच इन्द्रियों के संवरण का स्वरूप -

अमणुण्णे य मणुण्णे सजीवदव्वे अजीवदव्वे य ण करेदि रायदोसे पंचेंदियसंवरो भणिओ ॥२९॥

अन्वयार्थ : [मणुण्णे] मनोज्ञ (इष्ट) [य] और [अमणुण्णे] अमनोज्ञ (अनिष्ट) [सजीवदव्वे] चेतन द्रव्यों [य] तथा [अजीवदव्वे] अचेतन द्रव्यों में [रायदोसे] रागद्वेष [ण करेइ] नहीं करना [पंचेंदियसंवरो] पंचेन्द्रिय संवर (इष्ट विषयों में राग और अनिष्ट में द्वेष नहीं रहना पंचेन्द्रिय संवर/दमन) [भणिओ] कहा है ।

हिंसाविरइ अहिंसा असच्चविरइ अदत्तविरइ य तुरियं अबंभविरइ पंचम संगम्मि विरइ य ॥३०॥

अन्वयार्थ : [हिंसाविरइ] हिंसाविरति अर्थात् अहिंसा, [असच्चविरइ] असत्यविरति, [अदत्तविरइ] अदत्त विरति, [तुरियं] चौथा [अबंभविरइ] अब्रह्म विरति [य] और [पंचम] पाँचवां [संगम्मि विरइ] संगविरति व्रत है ।

+ इनको महाव्रत क्यों कहते हैं? -

साहंति जं महल्ला आयरियं जं महल्लपुव्वेहिं जं च महल्लाणि तदो महव्वया इत्तहे याइं ॥३१॥

अन्वयार्थ : [जं] क्योंकि [महल्ला] महापुरुष इन्हें [साहंति] साधते हैं, [महल्लपुव्वेहिं] पूर्ववर्ती महापुरुषों ने इनका [आयरियं] आचरण किया है, [च] और [जं] क्योंकि [महल्लाणि] स्वयं से महान है, [तदो] इसलिए [ताइं] उन्हें [महल्लया] महाव्रत [इत्तेहे] कहते हैं ।

+ अहिंसाव्रत की पाँच भावना -

वयगुत्ती मणगुत्ती इरियासमिदी सुदाणणिक्खेवो अवलोयभोयणाए अहिंसए भावणा होति ॥३२॥

अन्वयार्थ : [वचनगुप्ती] वचनगुप्ति, [मणगुप्ती] मन गुप्ति, [इरियासमीदी] ईर्यासमिति, [सुदाणणिक्खेवो] सुदान/आदान निक्षेपण समिति और [अवलोएभोयणाए] आलोकित पान, [अहिसाए भावणा] अहिंसाव्रत की ५ भावनायें [होंति] हैं ।

+ सत्य महाव्रत की भावना -

कोहभयहासलोहा मोहा विवरीयभावणा चेव
विदियस्स भावणाए ए पंचेव य तहा होंति ॥३३॥

अन्वयार्थ : [कोह] क्रोध, [भय] भय, [हास] हास्य, [लोहा] लोभ और [मोहा] मोह के [विवरीयभावणा] विपरीत भावना (क्षमा, अभय, अहास्य अलोभ, अमोह) [चेव] और भी, [ए] ये [विदियस्सभावणाए] दूसरे (सत्य महाव्रत) की पांच भावनायें [होंति] होती हैं ।

+ अचौर्य महाव्रत की भावना -

सुण्णायारणिवासो विमोचियावास जं परोधं च
एसणसुद्धिसउत्तं साहम्मीसंविसंवादो ॥३४॥

अन्वयार्थ : [सुण्णायारणिवासो] शून्यागारनिवास, [विमोचितवास] विमोचितवास, [परोधं] परोपरोधाकरण, [एसणसुद्धिस] एषण शुद्धि [उत्तं] सहित और [साहम्मीसंविसंवादो] सधर्मा-अविसंवाद, ये पांच अचौर्य महा व्रत की भावनायें हैं ।

+ ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावना -

महिलालोयणपुव्वरइसरणसंसत्तवसहिविकहाहिं
पुट्टियरसेहिं विरओ भावण पंचावि तुरियम्मि ॥३५॥

अन्वयार्थ : [महिलाअलोयण] राग सहित स्त्रियों को देखना, [पुव्वरइसरण] पूर्व में भोगे भोगों का स्मरण, [संसत्तवसहि] स्त्रियों से संसक्त वसतिका में रहना, [विकहाहि] स्त्रियों की कथा और [पुट्टियरसेहिं] पौष्टिक रसों का सेवन से [वीरओ] विरति ब्रह्मचर्यव्रत की [पंचावि] पांच [भावण] भावनायें हैं ।

+ पाँच अपरिग्रह महाव्रत की भावना -

अपरिग्गह समणुण्णेषु सदपरिसरसरूवगंधेषु
रायद्दोसाईणं परिहारो भावणा होंति ॥३६॥

अन्वयार्थ : [समणुण्णेषु] मनोज्ञ और अमनोज्ञ भेद युक्त; [सदपरिसरसरूवगंधेषु] शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध, इन पंचेन्द्रिय विषयों में [रायद्दोसाईणं] राग द्वेष [परिहारो] त्यागना, [अपरिग्गह] अपरिग्रह व्रत की पांच [भावणा] भावनायें [होंति] होती हैं ।

+ पाँच समिति -

इरिया भासा एसण जा सा आदाण चेव णिक्खेवो
१संजमसोहिणिमित्तं खंति जिणा पंच समिदीओ ॥३७॥

अन्वयार्थ : [जिणा] जिनेन्द्र भगवान् ने [संजम] संयम की [सोही] शुद्धि के [णिमित्ते] निमित्त पांच [समिदओ] समितियां; [इरिया] ईर्या, [भासा] भाषा, [एसण] एषणा, [आदाण चेव णिक्खेवो] आदान और निक्षेप [खंति] कही है ।

+ ज्ञान का स्वरूप -

भव्वजणबोहणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहि जह भणियं
णाणं णाणसरूवं अप्पाणं तं वियाणेहि ॥३८॥

अन्वयार्थ : [भव्वजण] भव्यजीवों को [बोहणत्थं] समझाने के लिए [जिणमग्गे] जिनमार्ग में [जिणवरेहि] जिनेन्द्रदेव ने [णाणं] ज्ञान और [णाणसरूवं] ज्ञान का स्वरूप [जह भणियं] जैसा कहा है [तं] उस (ज्ञान स्वरूप) [अप्पाणं] आत्मा

[वियाणेहि] को जानो ।

+ जो इसप्रकार ज्ञान से ऐसे जानता है, वह सम्यग्ज्ञानी -

**जीवाजीवविभत्ती जो जाणइ सो हवेइ सण्णाणी
रायादिदोसरहिओ जिणसासणे मोक्खमग्गोत्ति ॥३९॥**

अन्वयार्थ : [जीवाजीव] जीव और अजीव के [विहत्तो] भेद को [जो जाणइ] जो [सण्णाणी] जानता है [सो] वह सम्यग्ज्ञानी [हवेइ] है, [रायादिदोस] रागादि दोषों [रहिओ] रहित है, [जिणसासणे] जिनशासन में [मोक्ख मग्गुत्ति] मोक्षमार्ग रूप कहा है ।

+ मोक्षमार्ग को जानकर श्रद्धा सहित इसमें प्रवृत्ति करता है, वह शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त करता है -

**दंसणणाणचरित्तं तिण्णि वि जाणेह परमसद्धाए
जं जाणिऊण जोई अइरेण लहंति णिव्वाणं ॥४०॥**

अन्वयार्थ : [दंसणणाणचरित्तं] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र [तिण्णिवि] तीनों को [परमसद्धाए] परमश्रद्धा से [जाणेह] जानो, [जं जाणिऊण] जिनको जानकर [जोई] योगीजन [अइरेण] अल्प-काल में [णिव्वाणं] निर्वाण को [लहंति] प्राप्त करते हैं ।

+ निश्चयचारित्ररूप ज्ञान का स्वरूप कि महिमा -

**१पाऊण णाणसलिलं णिम्लसुविशुद्धभावसंजुता
होति सिवालयवासी तिहुवणचूडामणी सिद्धा ॥४१॥**

अन्वयार्थ : [णिमल्ल] निर्मल [णाणसलिलं] सम्यग्ज्ञान रूपी जल को [पाऊण] प्राप्त कर, [सुविसुद्ध] अत्यंत विशुद्ध [भावसंजुता] भावोयुक्त पुरुष [सिवालयवासी] मोक्षधाम के वासी, [तिहुवण] त्रिलोक के [चूडा मणी] चूड़ामणि समान [सिद्धा] सिद्ध [होति] होते हैं ।

+ गुण दोष को जानने के लिए ज्ञान को भले प्रकार से जानना -

**णाणगुणेहिं विहीणा ण लहंते ते सुइच्छियं लाहं
इय णाउं गुणदोसं तं सण्णाणं वियाणेहिं ॥४२॥**

अन्वयार्थ : [णाणगुणेहिं] ज्ञानगुण से [विहिणा] हीन जीव [सुइच्छायं] अत्यंत इष्ट (मोक्ष) के [लाहं] लाभ से [लहंते] लाभान्वित [ण] नहीं हो सकते । [इय] इस प्रकार [गुणदोसं] गुण-दोषों को [णाउं] जानकर [तं] उस [सण्णाणं] सम्यग्ज्ञान को [वियाणेहि] अच्छी तरह जानो ।

+ जो सम्यग्ज्ञान सहित चारित्र धारण करता है, वह थोड़े ही काल में अनुपम सुख को पाता है -

**चारित्तसमारूढो अप्पासु परं ण ईहए णाणी
पावइ अइरेण सुहं अणोवमं जाण णिच्छयदो ॥४३॥**

अन्वयार्थ : [णाणी] ज्ञानी [चारित्तसमारूढो] चारित्र पर आरूढ़ (पालन करते हुए) होकर [अप्पासु] आत्मा के अतिरिक्त [परं] अन्य (इष्ट पर पदार्थों; स्त्री, सम्पत्ति, पुत्रादि) की [ईहए] इच्छा [ण] नहीं रखता, [आइरेण] शीघ्र ही [अणोवमं] अनुपम [सुहं] सुख को [पावइ] प्राप्त करते हैं, ऐसा [णिच्छयदो] निश्चय से [जाण] जानो ।

+ चारित्र के कथन का संकोच -

**एवं संखेवेण य भणियं णाणेण वीयराएण
सम्मत्तसंजमासयदुण्हं पि उदेसियं चरणं ॥४४॥**

अन्वयार्थ : [एवं] इस प्रकार [संखेवेण] संक्षेप में, [णाणेण] ज्ञानस्वभाव से युक्त, [वीयरायेण] वीतरागीदेव ने [सम्मत्त] सम्यक्त्व और [संजमासय] संयम के आश्रय, [दुण्हं] दो ही [चरणं] आचार (दर्शनाचार और चारित्राचार) [उदेसियं]

+ चारित्रपाहुड को भाने का उपदेश और इसका फल -

**भावेह भावसुद्धं फुडु रइयं चरणपाहुणं चेव
लहु चउगइ चइऊणं अइरेणऽपुणब्भवा होई ॥४५॥**

अन्वयार्थ : [भावेह] हे भव्य जीवो ! [भावसुद्धं] शुद्धभाव से [फुडु] स्पष्ट [चरणपाहुड] चरण-प्राभृत [चेव] और दर्शन प्राभृत [रइयं] रचित है, [चउगइ] चतुर्गतिओं का [चइ] त्याग कर [ऊणं] उनसे [अचिरेण] शीघ्र ही [ऽपुणब्भवा] पुनर्भव रहित (सिद्ध) [होई] हो जाओ ।

बोध-पाहुड

+ ग्रन्थ करने की मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा -

**बहुसत्थअत्थजाणे संजमसम्मत्तसुद्धतवयरणे
वंदित्त आयरिए कसायमलवज्जिदे सुद्धे ॥१॥
सयलजणबोहणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं
वोच्छामि समासेण छक्कायसुहंकरं सुणहं ॥२॥**

अन्वयार्थ : मैं [बहुसत्थअत्थ] अनेक शास्त्रों के अर्थों के [जाणो] ज्ञाता, [संजम] संयम, [सम्मत्त] सम्यक्त्व, [सुद्धतवयरणे] शुद्ध तपश्चरण के धारक, [कसायमल] कषाय रुपी मल से [वज्जिदे] रहित [शुद्ध] निर्मल [आयरिए] आचार्यों को [वंदित्त] नमस्कार कर [सयलजण] समस्त मनुष्यों को [बोहणत्थं] संबोधने के लिए [जिणमग्गे] जिनमार्ग में [जिणवरेहिं] जिनेन्द्र भगवान ने [जह] जैसा [भणियं] कहा वैसा [समासेण] संक्षेप में [य] और [छक्काय] षट्काय जीवों के लिये [हियंकरं] हितकारी ('बोधप्राभृत' नामक ग्रंथ) [वोच्छामि] कहूंगा, [सुणसु] उसे सुनो ।

+ 'बोधपाहुड' में ग्यारह स्थलों के नाम -

**आयदणं चेदिहरं, जिणपडिमा दंसणं च जिणबिंबं
भणियं सुवीयरायं, जिणमुद्दा णाणमादत्थं ॥३॥
अरहंतेण सुदिट्ठं, जं देवं तित्थमिह य अरहंतं
पावज्जगुणविसुद्धा, इय णायव्वा जहाकमसो ॥४॥**

अन्वयार्थ : [आयदणं] १-आयतन, [चेदिहरं] २-चैत्यगृह, [जिणपडिमा] ३-जिनप्रतिमा, [दंसणं] ४-दर्शन, [जिणबिंबं] ५-आगम में [भणियं] प्रतिपादित [सुवीयरायं] अत्यंत वीतराग जिनबिम्ब, [जिणमुद्दा] ६-जिनमुद्रा, [णाणमादत्थं] ७-आत्मस्थज्ञान, [अरहंतेण] ८-अरिहंत सर्वज्ञ वीतराग देवों द्वारा [सुदिट्ठं] अच्छी प्रकार [मिह] प्रतिपादित [देवं] देव का स्वरूप, [य] और [तित्थ] ९-तीर्थ, [अरहंतं] १०-अरिहंतस्वरूप का निरूपण और [पावज्ज गुणविसुद्धा] ११-गुणों से युक्त विशुद्ध प्रवज्या (दीक्षा) [जहाकमसो] क्रमशः (११अधिकार), [इय] इस (बोध प्राभृत) ग्रन्थ में [णायव्वा] जानो ।

+ आयतन का निरूपण -

मणवयणकायदव्वा आयत्त जस्स इन्दिया विसया

आयदणं जिणमग्गे णिद्धिदुं संजयं रूवं ॥५॥

अन्वयार्थ : [जस्स] जिसके [दव्वा] द्रव्य-रूप [मणवयणकाय] मन, वचन, काय और [इन्दियाविसया] इन्द्रियों के विषय [आयत्ता] अधीन है, ऐसे [संजयरूवं] संयत रूप (मुनि) को [जिणमग्गे] जिनमार्ग / जिनागम में [आयदणं] आयतन [णिद्धिदुं] निर्दिष्ट है ।

मयरायदोस मोहो कोहो लोहो य जस्स आयत्त
पंचमहव्वयधारी आयदणं महरिसी भणियं ॥६॥

अन्वयार्थ : [मय] मद, [रायदोस] राग-द्वेष, [मोहो] मोह, [कोहो] क्रोध [य] और [लोहो] लोभ, [जस्स] जिसके [आयत्ता] अधीन है ऐसे [पंचमहावयधारी] पंचमहाव्रती, महर्षि [आयदणं] आयतन [भणियं] कहे गए हैं ।

सिद्धं जस्स सदत्थं विसुद्धझाणस्स णाणजुत्तस्स
सिद्धायदणं सिद्धं मुणिवरवसहस्स मुणिदत्थं ॥७॥

अन्वयार्थ : [विसुद्धझाणस्स] विशुद्ध ध्यान सहित, [णाणजुत्तस्स] केवल ज्ञान से युक्त [मुणिवर] जिस श्रेष्ठ मुनि के [सदत्थं] निजात्मस्वरूप [सिद्धंजस्स] सिद्ध हुआ है या जिन्होंने [वसहस्स] छह द्रव्यों, सात तत्त्वों, नव पदार्थों को [मुणिदत्थं] अच्छी तरह जान लिया है उन्हें [सिद्धायदणं] सिद्धायतन [सिद्धं] कहा है ।

+ चैत्यगृह का निरूपण -

बुद्धं जं बोहंतो अप्पाणं चेदयाइं अण्णं च
पंचमहव्वयसुद्धं णाणमयं जाण चेदिहरं ॥८॥

अन्वयार्थ : [जं] जो [बुद्धं] ज्ञानयुक्त [अप्पाणं] आत्मा को [बोहंतो] जानते हैं [च] और [अण्णं] अन्यो को भी उसका [चेइयाइं] बोध कराते हैं, [पंचममहव्वय] पंचमहाव्रतों से [सुद्धं] शुद्ध [णाणमयं] ज्ञानमय हैं, ऐसे (मुनि) को [चेदिहरं] चैत्यगृह [जाण] जानो ।

चेइयं बंधं मोक्खं दुक्खं सुक्खं च अप्पयं तस्स
चेइहरं जिणमग्गे छक्कायहियंकरं भणियं ॥९॥

अन्वयार्थ : [बंधं] बंध [मोक्खं] मोक्ष [दुक्खं] दुख [च] और [सुक्खं] सुख जिसको होते हैं [तस्स] वह [अप्पयं] जीव [चेइय] चैत्य है, [चेइहरं] चैत्यगृह [जिणमग्गे] जिनमार्ग में [छक्काय] षट्काय के जीवों के लिये, [हियंकरं] हितकारी [भणियं] कहा है ।

+ जिनप्रतिमा का निरूपण -

सपरा जंगमदेहा दंसणणाणेण सुद्धचरणाणं
णिगंथवीयराया जिणमग्गे एरिसा पडिमा ॥१०॥

अन्वयार्थ : [जिणमग्गे] जिनमार्ग में -- [सपरा] स्व और पर से [जंगमदेहा] चलती हुई देह सहित, [दंसणणाणेण] सम्यग्दर्शन-ज्ञान से [सुद्धाचरणाणं] शुद्ध आचरण (सम्यक्चारित्र) धारक [णिगंथ] निर्ग्रन्थ, [वीयराया] वीतरागी, [एरिसा] ऐसी [पडिमा] प्रतिमा (जिनबिंब) है ।

जं चरदि सुद्धचरणं जाणइ णिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं
सा होई वंदणीया णिगंथा संजदा पडिमा ॥११॥

अन्वयार्थ : [जं] जो [सुद्धचरणं] निरतिचार (शुद्ध) चारित्र का [चरदि] पालन करते हैं, [सुद्धसम्मत्तं] शुद्ध सम्यक्त्व (सम्यक्-ज्ञान और दर्शन) द्वारा [जाणइ] जानते हैं, [णिच्छेइ] देखते हैं, ऐसे [णिगंथा] निर्ग्रन्थ [संजदा] संयमी मुनियों को [पडिमा] प्रतिमा कहा है, [सा] वे [वंदणीया] वन्दनीय [होइ] हैं ।

दंसणअणंतणाणं अणंतवीरिय अणंतसुक्खा य
सासयसुक्ख अदेहा मुक्का कम्मट्ठबंधेहिं ॥१२॥
णिरुवममचलमखोहा णिम्मिविया १जंगमेण रूवेण
सिद्धट्ठाणम्मि ठिया वोसरपडिमा धुवा सिद्धा ॥१३॥

अन्वयार्थ : [दंसण] अनन्त-दर्शन, [अणंतणाणं] अनन्त-ज्ञान, [अणंतवीरिय] अनन्त-वीर्य, [अणंतसुक्खाय] अनन्त-सुख, [सासयसुक्ख] शाश्वत (अविनाशी) सुख-युक्त, [अदेहा] अशरीरी और [कम्मट्ठ] अष्टकर्मों के [बंधेहिं] बंधन से [मुक्का] मुक्त, [णिरुवमं] उपमा रहित, [अचलम्] अचल, [अखोहा] क्षोभ-रहित, [जंगमेण रूवेण] जंगम-रूप से [णिम्मिविया] निर्मित हैं, सिद्ध [ठाणम्मि] स्थान में [ठिया] स्थित [धुवा] ध्रुव, सिद्ध-परमेष्ठी को [वोसरपडिमा] स्थावर-प्रतिमा कहते हैं।

+ दर्शन का स्वरूप -

दंसेइ मोक्खमग्गं सम्मत्तं संजमं सुधम्मं च
णिग्गंथं णाणमयं जिणमग्गे दंसणं भणियं ॥१४॥

अन्वयार्थ : जो [मोक्खमग्गं] मेक्षमार्ग [दंसेइ] दिखलाता है अर्थात् [सम्मत्तं] सम्यक्दर्शन, [णाणमयं] ज्ञानमय, [संजमं] संयम, [सुधम्मं] दस-लक्षण धर्म [च] और [णिग्गंथं] परिग्रह रहित (चारित्र) [जिणमग्गे] जिनमार्ग में उसे [दंसणं] दर्शन [भणियं] कहा है।

जह फुल्लं गंधमयं भवति हु खीरं स धियमयं चावि
तह दंसणं हि सम्मं णाणमयं होइ रूवत्थं ॥१५॥

अन्वयार्थ : [जह] जैसे [फुल्लं] फूल [गंधमयं] गन्धमय [स] और [खीरं] दूध [धियमयं] घृतमय [भवति] होता है, [तह] वैसे [दंसणं] दर्शन [हि] भी [सम्मंणाणमयं] सम्यग्ज्ञानमय, [रूवत्थं] रूपस्थ (मुनि, श्रावक, श्राविका और असंयत सम्यग्दृष्टि रूप) [होइ] होता है।

+ जिनबिंब का निरूपण -

जिणबिंबं णाणमयं संजमसुद्धं सुवीयरायं च
जं देह दिक्खसिक्खा कम्मक्खयकारणे सुद्धा ॥१६॥

अन्वयार्थ : [जं] जो [णाणमयं] ज्ञानमय, [संजमसुद्धं] संयम से शुद्ध, [सुवीयरायं] परम वीतरागी हैं [च] तथा [दिक्खसिक्खा] दीक्षा-शिक्षा [देइ] देते हैं, [कम्मक्खय] कर्म-क्षय में [कारणे] कारण हैं और [सुद्धा] शुद्ध हैं वे (आचार्य परमेष्ठी) [जिणबिम्बं] जिनबिम्ब हैं।

तस्स य करह पणामं सव्वं पुज्जं च विणय वच्छल्लं
जस्स य दंसण णाणं अत्थि धुवं चेयणाभावो ॥१७॥

अन्वयार्थ : [तस्स] उनको (आचार्य परमेष्ठी को), सब प्रकार (अष्ट द्रव्य) से [पणामं] प्रणाम करो, [सव्वं] सर्व प्रकार से [पुज्जं] पूजा करो, [य] और उनके प्रति [विणय] विनय तथा [वच्छल्लं] वात्सल्य-भाव रखो, [जस्स] जिनके [दंसणणाणं] सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान है तथा [धुवं] निश्चित रूप से [चेयणाभावो] चेतना भाव अर्थात् आत्म-स्वरूप की उपलब्धि [अत्थि] विद्यमान है।

तववयगुणेहिं सुद्धो जाणदि पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं
अरहन्तमुद्द एसा दायारी दिक्खसिक्खा य ॥१८॥

अन्वयार्थ : जो [तववयगुणेहिं] तप, व्रत और गुणों से [सुद्धो] शुद्ध हैं, [सुद्धसम्मत्तं] शुद्ध सम्यक्त्व द्वारा [जाणदि] जानते हैं, [पिच्छेइ] देखते हैं, [ऐसा] ऐसी [अरहन्तमुद्द] अरहन्त मुद्रा (जिनबिम्ब) [दिक्ख] दीक्षा [य] [सिक्खा] शिक्षा [दायारी] देने वाली है।

+ जिनमुद्रा का स्वरूप -

दढसंजममुद्दाए इन्दियमुद्दा कसायदिढमुद्दा मुद्दा इह णाणाए जिणमुद्दा एरिसा भणिया ॥१९॥

अन्वयार्थ : [संजम] संयम की [दढ] दढ [मुद्दाए] मुद्दा, [इन्दियमुद्दा] इन्द्रियों का संकोच, [कसायदिढमुद्दा] कषायों पर दढ नियंत्रण, [णाणाए] सम्यग्ज्ञान की [मुद्दा] मुद्दा, [एरिसा] ऐसी [जिणमुद्दा] जिनमुद्दा कही गई है ।

+ ज्ञान का निरूपण -

संजमसंजुत्तस्स य सुझाणजोयस्स मोक्खमग्गस्स णाणेण लहदि लक्खं तम्हा णाणं च णायव्वं ॥२०॥

अन्वयार्थ : [संजमसंजुत्तस्स] संयम सहित [य] और [सुझाणजोयस्स] उत्तम-ध्यान के योग्य, [मोक्खमग्गस्स] मोक्षमार्ग का [लक्खं] लक्ष्य (आत्म-स्वभाव की प्राप्ति) [णाणेण] ज्ञान से ही [लहदि] प्राप्त होता है [तम्हा] इसलिए [णाणं] ज्ञान को [णायव्वं] जानना चाहिए ।

+ इसी को दृष्टान्त द्वारा दढ़ करते हैं -

जह णवि लहदि हु लक्खं रहिओ कंडस्स वेज्झयविहीणो तह णवि लक्खदि लक्खं अण्णाणी मोक्खमग्गस्स ॥२१॥

अन्वयार्थ : [जह] जैसे [वेज्झय] वेधक बाण [विहीणो] विहिन और [कंडस्स] धनुष के अभ्यास से [रहिओ] रहित [लक्खं] लक्ष्य को [णवि] नहीं [लहदि] प्राप्त करता [तह] उसी प्रकार [अण्णाणी] ज्ञान से रहित (अज्ञानी) [मोक्खमग्गस्स] मोक्षमार्ग के [लक्खं] लक्ष्य (आत्म-स्वभाव) को [णवि] नहीं [लक्खदि] प्राप्त करता है ।

+ इसप्रकार ज्ञान-विनय-संयुक्त पुरुष होवे वही मोक्ष को प्राप्त करता है -

णाणं पुरिस्स हवदि लहदि सुपुरिसो वि विणयसंजुत्ते णाणेण लहदि लक्खं लक्खंतो मोक्खमग्गस्स ॥२२॥

अन्वयार्थ : [णाणं] ज्ञान [पुरिस्स] पुरुष को [हवदि] होता है, [विणयसंजुत्तो] विनय से संयुक्त [सुपुरिसो] सत्पुरुष ही ज्ञान [लहदि] प्राप्त करता है, [णाणेण] ज्ञान से [लक्खं] लक्ष्य [लहदि] प्राप्त होता है जो [मोक्खमग्गस्स] मोक्षमार्ग का [लक्खंतो] लक्ष्य (निजात्मस्वरूप) है ।

मइधणुहं जस्स थिरं सुदगुण बाणा सुअत्थि रयणत्तं परमत्थबद्धलक्खो णवि चुक्कदि मोक्खमग्गस्स ॥२३॥

अन्वयार्थ : [जस्स] जिस मुनि के [मइधणु] मति-ज्ञान-रूप धनुष [थिरं] स्थिर हो, [सुदगुण] श्रुत-ज्ञान-रूप गुण अर्थात् प्रत्यंचा हो, [रयणत्तं] रत्नत्रय-रूप [सुअत्थि] उत्तम [बाणा] बाण हो और [परमत्थ] परमार्थ-स्वरूप / निज-शुद्धात्म-स्वरूप का [बद्ध] संबंध-रूप [लक्खो] लक्ष्य हो, वह मुनि [मोक्खमग्गस्स] मोक्ष-मार्ग में [णवि] नहीं [चुक्कदि] चूकता है ।

+ देव का स्वरूप -

सो देवो जो अत्थं धम्मं कामांशुदेइ णाणं च सो दइ जस्स अत्थि हु अत्थो धम्मो य पवज्ज ॥२४॥

अन्वयार्थ : [सो] वह [देवो] देव है, जो [सु] भली प्रकार [अत्थं] अर्थ, [धम्मं] धर्म, [कामं] काम [च] और [णाणं] ज्ञान [देइ] देते है । [जस्स] जिसके पास [अत्थि] है [सो] वही [देइ] देता है इस न्याय से जिनके पास [अत्थो धम्मो] अर्थ, धर्म, [य] काम और [पवज्जा] दीक्षा / ज्ञान है उनको 'देव' जानो ।

+ धर्मादिक का स्वरूप -

धम्मो दयाविसुद्धो पव्वज्ज सव्वसंगपरिचत्तं देवो ववगयमोहो उदयकरो भव्वजीवाणं ॥२५॥

अन्वयार्थ : जो [दयाविसुद्धो] दया से विशुद्ध है वह [धम्मो] धर्म है, जो [सव्वसंगपरिचत्ता] सर्व परिग्रह से रहित है वह [पव्वज्जा] प्रव्रज्या है, जिसका [ववगयमोहो] मोह नष्ट हो गया है वह [देवो] देव है, वह [भव्वजीवाणां] भव्य जीवों के [उदययरो] उदय को करनेवाला है ।

+ तीर्थ का स्वरूप -

वयसम्मत्तविसुद्धे पंचेदियसंजदे णिरावेक्खे
णहाएउ मुणी तित्थे, दिक्खासिक्खासुणहाणेण ॥२६॥

अन्वयार्थ : [वय] व्रत [सम्मत्त] सम्यक्त्व से [विसुद्धे] विशुद्ध और [पंचेदिय] पाँच इन्द्रियों से [संजदे] संयत अर्थात् संवरसहित तथा [णिरावेक्खे] निरपेक्ष (ख्याति, लाभ, पूजादिक इस लोक के फल की तथा परलोक में स्वर्गादिक के भोगों की अपेक्षा से रहित) [मुणी] मुनि [तित्थे] आत्म-स्वरूप तीर्थ में [दिक्खासिक्खा] दीक्षा-शिक्षा-रूप [सुणहाणेण] उत्तम स्नान से [णहाएउ] नहाओ ।

जं णिम्मलं सुधम्मं सम्मत्तं संजमं तवं णाणं
तं तित्थं जिणमग्गे हवेइ जदि सतिभावेण ॥२७॥

अन्वयार्थ : [जिणमग्गे] जिनमार्ग में वह तीर्थ है [जं] जो [णिम्मलं] निर्मल [सुधम्मं] उत्तम-क्षमादिक धर्म तथा [सम्मत्तं] तत्त्वार्थ-श्रद्धान-लक्षण शंकादि मल-रहित निर्मल सम्यक्त्व तथा [संजमं] इन्द्रिय व प्राणी संयम तथा [तवं] बारह प्रकार के निर्मल तप और [णाणं] जीव-अजीव आदि पदार्थों का यथार्थ ज्ञान, [तं] ये [तित्थं] 'तीर्थ' हैं, ये भी [जदि] यदि [सतिभावेण] शांत-भाव सहित [हवेइ] होता है तो ।

+ अरहंत का स्वरूप -

णामे ठवणे हि संदव्वे भावे हि सगुणपज्जाया
चउणागदि संपदिमे१ भावा भावंति अरहंतं ॥२८॥

अन्वयार्थ : [णामे] नाम, [ठवणे] स्थापना, [य] और [संदव्वे] द्रव्य, [भावेहि] भाव से, [सगुणपज्जाया] गुण पर्यायों से तथा [चउणा] गमन (स्वर्ग/नरक से च्युत होकर) और [आगदि] आगमन (भरतादि क्षेत्र में) व [संपदिम] सम्पदा (रत्न-वर्षा आदि) से [भावा] भव्य जीव [अरहंतं] अरहंत भगवान का [भावंति] चितन करते हैं ।

+ नाम को प्रधान करके कहते हैं -

दंसण अणंत णाणे मोक्खो णट्ठकम्मबंधेण
णिरुवमगुणमारूढो अरहंतो एरिसो होइ ॥२९॥

अन्वयार्थ : [दंसणं] अनन्त-दर्शन, [अणंताणाणे] अनन्त-ज्ञान से [णट्ठकम्मबंधेण] अष्ट-कर्मों का बंध नष्ट होने होने से, [मोक्खो] भाव-मोक्ष प्राप्त कर लिया है, [णिरुवम] अनुपम [गुणमारूढो] गुणों से आरूढ़ हैं-सहित हैं [एरिसो] ऐसे अरिहंत भगवान [होई] होते हैं ।

जरवाहिजम्ममरणं चउगइगमणं च पुण्णपावं च
हंतूण दोसकम्मे हुउ णाणमयं च अरहंतो ॥३०॥

अन्वयार्थ : [जर] बुढ़ापा, [वाहि] व्याधि / रोग, [जम्म] जन्म, [मरणं] मरण, [चउगइगमणं] चतुरगति मे गमन [च] और [पुण्णपावं] पुण्य, पाप, [च] (१८) [दोस] दोष [हंतूण] रहित [च] और [कम्मे] कर्मों को, नष्टकर [णाणमयं] ज्ञानमय हुए हैं, वे [अरहंतो] 'अरहंत' हैं ।

+ स्थापना द्वारा अरहंत का वर्णन -

गुणठाणमग्गणेहिं य पज्जत्तीपाणजीवठाणेहिं
ठावण पंचविहेहिं पणयव्वा अरहपुरिसस्स ॥३१॥

अन्वयार्थ : [गुणठाणमग्गणेहिं] गुणस्थान, मार्गणा, [य] और [पज्जत्तीपाण] पर्याप्ति, प्राण [जीवठाणेहिं] जीवस्थान, [पंचविहेहिं] पांच प्रकार से [अरूहपुरीसस्स] अरिहंत भगवान् की [ठावण] स्थापना का [पणयव्वा] वर्णन करना चाहिये

+ गुणस्थान में अरिहंत की स्थापना -

तेरहमे गुणठाणे सजोइकेवलिय होइ अरहंतो
चउतीस अइसयगुणा होंति हु तस्सट्ठ पडिहारा ॥३२॥

अन्वयार्थ : [अरहंतो] अरिहंत भगवान्, [तेरहमे] तेरहवे [गुणठाणे] गुणस्थान में [सजोइकेवलिय] सयोगकेवलि [होइ] होते हैं । उनके [चउतीस] चौतीस [अइसयगुणा] अतिशय गुण तथा [हु तस्सट्ठ] उनके आठ [पडिहारा] प्रातिहार्य [होंति] होते हैं ।

+ मार्गणा में अरिहंत की स्थापना -

गइ इंदियं च काए जोए वेए कसाय णाणे य
संजम दंसण लेसा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥३३॥

अन्वयार्थ : १४ मार्गणा -- [गइ] गति, [इंदियं] पंचेन्द्रियों, [काए] काय, [जोए] योग, [वेए] वेद, [कसाय] कषाय, [णाणे] ज्ञान, [संजम] संयम, [दंसण] दर्शन, [लेसा] लेश्या, [भविया] भव्यत्व, [सम्मत्त] सम्यक्त्व, [सण्णि] संज्ञित्व, [च] और [आहारे] आहारक, इसप्रकार मार्गणा अपेक्षा अरिहंत भगवान् की स्थापना करनी चाहिए ।

+ पर्याप्ति में अरिहंत की स्थापना -

आहारो य सरीरो इंदियमणआणपाणभासा य
पज्जत्तिगुणसमिद्धो उत्तमदेवो हवइ अरहो ॥३४॥

अन्वयार्थ : [आहारो] आहार, [य] और [सरीरो] शरीर, [तह] तथा [इंदिय] इन्द्रिय, [आणपाण] श्वासोच्छ्वास, [भासा] भाषा, [य] और मन; -- इसप्रकार छह पर्याप्ति हैं, इस [पज्जत्तिगुण] पर्याप्ति गुण द्वारा [समिद्धो] समृद्ध अर्थात् युक्त [उत्तमदेवो] उत्तम देव [अरहो] अरहंत [हवइ] होते हैं ।

+ प्राण में अरिहंत की स्थापना -

पंच वि इंदियपाणा मणवयकाएण तिण्णि बलपाणा
आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दह पाणा ॥३५॥

अन्वयार्थ : [पंचवि] पाँच [इंदियपाणा] इन्द्रिय-प्राण, [मनवयकाएण] मन-वचन-काय [तिण्णि] तीन [बलपाणा] बल-प्राण, एक [आणप्पाणप्पाणा] श्वासोच्छ्वास-प्राण और एक [आउगपाणेण] आयु-प्राण ये [दह] दस [पाणा] प्राण [होंति] होते हैं ।

+ जीवस्थान में अरिहंत की स्थापना -

मणुयभवे पंचिंदिय जीवट्ठाणेसु होइ चउदसमे
एदे गुणगणजुत्ते गुणमारूढो हवइ अरहो ॥३६॥

अन्वयार्थ : [मणुयभवे] मनुष्य-भव में [पंचिंदिय] पंचेन्द्रिय नाम के [चउदसमे] चौदहवें [जीवट्ठाणेसु] जीवस्थान अर्थात् जीव-समास [होइ] होते हैं, [एवे] इतने [गुणगण] गुणों के समूह से [जुत्तो] युक्त तेरहवें [गुणमारूढो] गुणस्थान में आरूढ़ अरहंत [हवइ] होते हैं ।

+ द्रव्य की प्रधानता से अरहंत का निरूपण -

जरवाहिदुक्खरहियं आहारणिहारवज्जियं विमलं
सिंहाण खेले सेओ णत्थि दुगुंछा य दोसो य ॥३७॥
दस पाणा पज्जती अट्ठसहस्सा य लक्खणा भणिया

गोखीरसंखधवलं मंसं रुहिरं च सव्वंगे ॥३८॥
एरिसगुणेहिं सव्वं अइसयवंतं सुपरिमलामोयं
ओरालियं च कायं णायव्वं अरहपुरिसस्स ॥३९॥

अन्वयार्थ : अरहंत पुरुष के औदारिक काय इसप्रकार होता है, जो [जर] बुढ़ापा, [वाहि] व्याधि और रोग संबंधी [दुक्खरहियं] दुःख से रहित है, [आहारणिहार] आहार, मल-मूत्र विसर्जन से [वज्जियं] रहित है, [विमलं] मलमूत्र रहित है; [सिंहाण] श्लेष्म, [खेल] थूक-कफ, [सेओ] पसेव और दुर्गन्ध अर्थात् जुगुप्सा, [दुगंछा] ग्लानि [य] और दुर्गन्धादि [दोसो] दोष उसमें [णत्थि] नहीं है ॥३७॥
[दसपाणा] दस तो उसमें प्राण होते हैं वे द्रव्यप्राण हैं, [पज्जती] पूर्ण पर्याप्ति है, [अट्टसहस्सा] एक हजार आठ [लक्खणा] लक्षण [भणिया] कहे हैं और [सव्वंगे] सर्वांग में [गोखीर] गाय के दूध तथा [संख] शंख जैसा [धवलंमंसं] धवल [रूहिरं] रुधिर और [मंसं] मांस है ॥३८॥
[एरिस] इसप्रकार [गुणेहिं] गुणों से संयुक्त [सव्वं] सर्व ही देह [अइसयवंतं] अतिशयसहित [सुपरिमलामोयं] उत्तम सुगन्ध से परिपूर्ण है, आमोद अर्थात् सुगंध जिसमें इसप्रकार [अरहपुरिसस्स] अरहंत पुरुष [ओरालियं] औदारिक [कायं] देह के [णायव्वं] जानो ॥३९॥

मयरायदोसरहिओ कसायमलवज्जिओ य सुविशुद्धो
चित्तपरिणामरहिदो केवलभावे मुणेयव्वो ॥४०॥
सम्मद्दंसणि पस्सदि जाणदि णाणेण दव्वपज्जया
सम्मत्तगुणविशुद्धो भावो अरहस्स णायव्वो ॥४१॥

अन्वयार्थ : अरिहन्त भगवान् भाव निक्षेप की अपेक्षा -- [मय] मद (ज्ञानादि ८), [राय] राग (ममता रूप परिणामों), [दोस] दोष (क्षुधादि १८) [रहिओ] रहित, [कसायमल] कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ), नोकषाय (हास्य, रति, अरती, शोक, भय, जुगुप्सा, त्रिवेद -- ९) [वज्जिओ] रहित, [सुविशुद्धो] अत्यंतविशुद्ध, [चित्तपरिणाम] मन के व्यापार [रहियो] रहित [य] और [केवलभावे] केवल ज्ञानादि (क्षायिक) भावों से [मुणेयव्वो] युक्त जानने चाहिए ।
[सम्मद्दंसणि] सम्यग्दर्शन से तो अपने को तथा सबको सत्तमात्र [पस्सइ] देखते हैं, इसप्रकार जिनको केवलदर्शन है, [गाणेण] ज्ञान से सब [दव्वपज्जया] द्रव्य-पर्यायों को [जाणदि] जानते हैं, जिनको [सम्मत्त] सम्यक्त्व [गुणविशुद्धो] गुण से विशुद्ध क्षायिक सम्यक्त्व पाया जाता है, इसप्रकार [अरहस्स] अरहंत को [भावो] भाव-निक्षेप से [णायव्वो] जानना चाहिए ।

+ प्रव्रज्या (दीक्षा) का निरूपण -

सुण्णहरे तरुहिट्ठे उज्जणे तह मसाणवासे वा
गिरिगुह गिरिसिहरे वा भीमवणे अहव वसिते वा ॥४२॥
१सवसासत्तं तित्थं २वचचइदालत्तयं च वुत्तेहिं
जिणभवणं अह बेज्झं जिणमग्गे जिणवरा विंति ॥४३॥
पंचमहव्वयजुत्त पंचिंदियसंजया णिरावेक्खा
सज्झायझाणजुत्त मुणिवरवसहा णिइच्छन्ति ॥४४॥

अन्वयार्थ : [सुण्ण] सूना [हरे] घर, [तरु] वृक्ष का [हिट्ठे] मूल, कोटर, [उज्जणे] उद्यान, वन, [तह] तथा [मसाणवासे] श्मशानभूमि, [गिरिगुह] पर्वत की गुफा, [गिरिसिहरे] पर्वत का शिखर, [वा] या [भीमवजे] भयानक वन [अहव] अथवा [वसिते] वस्तिका - इनमें दीक्षासहित मुनि ठहरें ।
[सवसासत्तं] स्ववशासक्त अर्थात् स्वाधीन मुनियों से आसक्त जो क्षेत्र उन क्षेत्रों में मुनि ठहरे । जहाँ से मोक्ष पधारे इसप्रकार तो [तित्थं] तीर्थस्थान और [वचचइदालत्तयं] वच (आयतन आदिक परमार्थरूप संयमी मुनि, अरहंत, सिद्धस्वरूप उनके नाम के अक्षररूप 'मंत्र' तथा उनकी आज्ञारूप वाणी), चैत्य (उनके आकार धातु-पाषाण की प्रतिमा स्थापन), आलय (प्रतिमा तथा अक्षर मंत्र वाणी जिसमें स्थापित किये जाते हैं, इसप्रकार आलय-मंदिर) [वुत्तेहिं] कहा गया है अर्थात् तथा को 'चैत्य' कहते हैं और वह यंत्र या पुस्तकरूप ऐसा वच, चैत्य तथा आलय का त्रिक है अथवा [जिणभवणं] जिनभवन अर्थात् अकृत्रिम चैत्यालय मंदिर इसप्रकार आयतनादिक उनके समान ही उनका व्यवहार उसे [जिणमग्गे] जिनमार्ग में [जिणवरा] जिनवर देव [वेज्झं] दीक्षासहित मुनियों के ध्यान करने योग्य, चिन्तन करने योग्य [विंति] जानते हैं ।

[वसहा] श्रेष्ठ [मुणिवर] मुनिराज [पंचमहव्ययजुत्ता] पाँच महाव्रत संयुक्त हैं, [पंचिदियसंजया] पाँच इन्द्रियों को भले प्रकार जीतनेवाले हैं, [गिरावेक्खा] निरपेक्ष हैं, [णिइच्छन्ति] किसीप्रकार की वांछा से मुनि नहीं हुए हैं, [सज्झाय] स्वाध्याय और [झाणजुत्ता] ध्यानयुक्त हैं ।

+ प्रव्रज्या का स्वरूप -

गिहगंधमोहमुक्का बावीसपरीसहा जियकषाया पावारंभविमुक्का पव्वज्ज एरिसा भणिया ॥४५॥

अन्वयार्थ : [गिह] गृह (घर) और [गन्ध] ग्रंथ (परिग्रह) इन दोनों से मुनि तो [मोहमुक्का] मोह / ममत्व / इष्ट-अनिष्ट बुद्धि से रहित ही है, जिनमें [बावीसपरीसहा] बाईस परीषहों का सहना होता है, [जियकषाया] कषायों को जीतते हैं और [पावारंभ] पापरूप आरंभ से [विमुक्का] रहित हैं, [एरिसा] इसप्रकार [पव्वज्जा] प्रव्रज्या जिनेश्वरदेव ने [भणिया] कही है ।

धणधणवत्थदाणं हिरण्णसयणासणाइ छत्ताइं कुद्दाणविरहरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४६॥

अन्वयार्थ : [धण] धन, [धण्ण] धान्य, [वत्थ] वस्त्र इनका [दाणं] दान, [हिरण्य] सोना आदिक, [सयणा] शय्या, [सणाइ] आसन [छत्ताइं] छत्र, चामरादिक और क्षेत्र आदि [कुद्दाण] कुदानों से [विरहरहिया] रहित [एरिसा] इसप्रकार [पव्वज्जा] प्रव्रज्या [भणिया] कही है ।

सत्तूमित्ते य समा पसंसणिंदा अलद्धिलद्धिसमा तणकणए समभावा पव्वज्ज एरिसा भणिया ॥४७॥

अन्वयार्थ : [सत्तू] शत्रु [व] और [मित्ते] मित्र में [समा] समभाव है, [पसंसणिंदा] प्रशंसा-निन्दा में, [अलद्धिलद्धि] अलाभ-लाभ में और [तणकणए] तृण-कंचन में [समभावा] समभाव है । [एरिसा] इसप्रकार [पव्वज्जा] प्रव्रज्या [भणिया] कही है ।

उत्तममज्झिमगेहे दारिद्दे ईसरे गिरावेक्खा सव्वत्थ गिहिदपिंडा पव्वज्ज एरिसा भणिया ॥४८॥

अन्वयार्थ : [उत्तम] शोभा सहित राजभवनादि और [मज्झिम] मध्यम [गेहे] घरों में, तथा [दारिद्दे] दरिद्र [ईसरे] धनवान् इनमें [गिरावेक्खा] निरपेक्ष अर्थात् इच्छारहित हैं, [सव्वत्थ] सब ही योग्य जगह पर [गिहिदपिंडा] आहार ग्रहण किया जाता है, [एरिसा] इसप्रकार [पव्वज्जा] प्रव्रज्या [भणिया] कही है ।

णिगंथा णिस्संगा णिम्माणासा अराय णिद्दोसा णिम्मम गिरहंकारा पव्वज्ज एरिसा भणिया ॥४९॥

अन्वयार्थ : [णिगंथा] निर्ग्रंथ / परिग्रह से रहित, [णिस्संगा] निस्संग / स्त्री आदि के संसर्ग रहित, [णिम्माणासा] तृष्णा से रहित / आठ मदों से रहित, [अराय] रागरहित, [णिद्दोसा] निर्दोषा / निर्द्वेषा, [णिम्मम] ममत्व रहित भाव, [गिरहंकार] अहंकार रहित [पव्वज्जा एरिसा भणिया] इसप्रकार दीक्षा कही है ।

णिण्णेहा णिल्लोहा णिम्मोहा णिव्वियार णिक्कलुसा णिब्भय गिरासभावा पव्वज्ज एरिसा भणिया ॥५०॥

अन्वयार्थ : [णिण्णेहा] निस्त्रेही, [णिल्लोहा] निर्लोभी, [णिम्मोहा] निर्मोही, [णिव्वियार] निर्विकार, [णिक्कलुसा] निकलुष, [णिब्भय] भय, [गिरासभावा] आशाभाव रहित और निराश भाव सहित, [एरिसा] इसप्रकार [पव्वज्जा] जिन दीक्षा [भणिया] कही गई है ।

+ दीक्षा का बाह्यस्वरूप -

जहजायरूवसरिसा अवलंबियभुय गिराउहा संता परकियणिलयणिवासा पव्वज्ज एरिसा भणिया ॥५१॥

अन्वयार्थ : [जहजायरूव] तत्काल जन्मे बालक के नग्नरूप [सरिसा] सदृश्य, [भुअ] भुजाये (हाथ) [अवलंबिय] जिसरूप मे नीचे को लटकी रहती है(कायोत्सर्ग मे), तथा [णिराउहा] निरायुध / शस्त्रो से रहित या [संता] शांत है, [परकिय] अन्यो द्वारा निर्मित [णिलय] उपाश्रय मे [णिवासा] निवास करते हैं, [एरिसा] इसप्रकार [पव्वजा] दीक्षा का स्वरूप [भणिया] बताया है ।

उवसमखमदमजुत्त सरीरसंकारवज्जिया रुक्खा मयरायदोसरहिया पव्वज्ज एरिसा भणिया ॥५२॥

अन्वयार्थ : [उवसम] उपशम / मोहकर्म के उदय का अभावरूप शांतपरिणाम, [खम] कषायों के शमन और [दम] इन्द्रिय और मन के दमन [जुत्ता] युक्त, [सरीरसंस्कार] शरीर के संस्कार [वज्जिया] रहित [रुक्खा] रुक्ष अर्थात् तेल आदि का मर्दन शरीर के नहीं है, [मय] मद और [रायदोस] राग द्वेष से [रहिया] रहित [पव्वजा] जिनदीक्षा [एरिसा] इसप्रकार [भणिया] कही है ।

विवरीयमूढभावा पणट्टकम्मट्ट णट्टमिच्छत्त सम्मत्तगुणविसुद्धा पव्वज्ज एरिसा भणिया ॥५३॥

अन्वयार्थ : [विवरीय] विपरीतता-रूप, [मूढभावा] मूढ भाव, [कम्मट्ट] अष्टकर्म, और [मिच्छत्ता] मिथ्यात्व [पणट्ट] नष्ट होकर [सम्मत्तगुणविसुद्धा] सम्यक्त्व गुणों से विशुद्ध [पव्वजा] जिनदीक्षा [एरिसा] इसप्रकार [भणिया] कही है ।

जिणमग्गे पव्वज्ज छहसंहणणेषु भणिय णिगंथा भावंति भव्वपुरिसा कम्मक्खयकारणे भणिया ॥५४॥

अन्वयार्थ : [जिणमग्गे] जिन मार्ग मे [पव्वज्जा] दीक्षा, [छहसंहणणेषु] छहों संहनन में [भणिय] कही है, [णिगंथा] निर्ग्रथ अपरिग्रहीयों के [भव्वपुरिसा] भव्य पुरुष ही इसकी [भावंति] भावना करते हैं, [कम्मक्खय] कर्म क्षय में [कारणे] कारण [भणिया] कही है ।

तिलतुसमत्तणिमित्तसम बाहिरगंधसंगहो णत्थि पव्वज्ज हवइ एसा जह भणिया सव्वदरसीहिं ॥५५॥

अन्वयार्थ : [तिलओसत्त] तिल-तुष मात्र सत्व का [निमित्तं] कारण इसप्रकार भावरूप इच्छा अर्थात् अंतरंग परिग्रह और तिल-तुष [समवाहिर] बराबर भी बाह्य [गंध] परिग्रह का [संगहो] संग्रह मुनि के [णत्थि] नहीं है, [एसा] वही [पावज्ज] दीक्षा [हवइ] है [जह] जैसी [सव्वदरिसीहिं] सर्वदर्शी/सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवान ने [भणिय] कही है ।

उवसग्गपरिसहसहा णिज्जणदेसे हि णिच्च १अत्यइ सिल कट्ठे भूमितले सव्वे आरुहइ सव्वत्थ ॥५६॥

अन्वयार्थ : [उवसग्ग] उपसर्ग और [परिसह] परिषह का सहना, [णिच्च] निरंतर [णिज्जणदेसे] निर्जन (मनुष्य रहित) स्थानों पर [हि] ही [अत्येइ] रहना, [सव्वत्थ] सर्वत्र [सिल] शिला, [कट्ठे] काष्ठ, [भूमितले] भूमि तल पर [सव्वे] इस सब प्रदेशों में [आरुहइ] रहना, इसप्रकार जिनदीक्षा कही है ।

+ अन्य विशेष -

पसुमहिलसंढसंगं कुसीलसंगं ण कुणइ विकहाओ सज्झायझाणजुत्त पव्वज्ज एरिसा भणिया ॥५७॥

अन्वयार्थ : [पसु] पशु, [महिल] महिला, [संढ] नपुंसको के [संगं] साथ, [कुसीलसंगं] कुशील मनुष्यो के साथ [विकहाओ] विकथा [ण] नहीं [कुणइ] करते हैं, तथा [सज्झाय] स्वाध्याय और [झाण] ध्यान [जुत्ता] युक्त [पव्वजा] जिनदीक्षा [एरिसा] इसप्रकार [भणिया] कही है ।

तववयगुणेहिं सुद्धा संजमसम्मत्तगुणविसुद्धा य सुद्धा गुणेहिं सुद्धा पव्वज्ज एरिसा भणिया ॥५८॥

अन्वयार्थ : [तव] अन्तरंग और बहिरंग तप, [वय] महाव्रत और [गुणेहिं] उत्तर-गुणों से [सुद्धा] शुद्ध (निरतिचार), [संजम] इन्द्रिय और प्राणी संयम, [सम्मत्ते] सम्यक्त्व [गुणविसुद्धा] गुण से विशुद्ध (निर्दोष सम्यग्दर्शन) [य] और [सुद्धा] निर्दोष [गुणेहिं] मूलगुणों से शुद्ध [पव्वजा] जिनदीक्षा [एरिसा] इसप्रकार [भणिया] कही है ।

एवं १आयत्तणगुणपज्जंता बहुविसुद्धसम्मत्ते णिग्गंथे जिणमग्गे संखेवेणं जहाखादं ॥५९॥

अन्वयार्थ : [एवं] इस प्रकार पूर्वोक्त, [णिग्गंथे] निर्ग्रन्थ दीक्षा [जिणमग्गे] जिनमार्ग में [संखेवेणं] संक्षेप में, [बहुविसुद्ध] अत्यंत विशुद्ध [सम्मत्ते] सम्यक्त्व युक्त [आयत्तगुण] आत्मगुणों की भावना से [पज्जत्ता] परिपूर्ण, [जहाखादं] यथा-ख्यात है ।

+ बोधपाहुड का संकोच -

रूवत्थं सुद्धत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं भव्वजणबोहणत्थं छक्कायहियंकरं उत्तं ॥६०॥

अन्वयार्थ : जिसमें अंतरंग भावरूप अर्थ [सुद्धत्थं] शुद्ध है और ऐसा ही [रूवत्थं] रूपस्थ अर्थात् बाह्यस्वरूप मोक्षमार्ग [जह] जैसा [जिणमग्गे] जिनमार्ग में [जिणवरेहिं] जिनदेव ने [भणियं] कहा है, वैसा [छक्काय] छहकाय के जीवों का [हियंकरं] हित करनेवाला मार्ग [भव्वजण] भव्यजीवों के [बोहणत्थं] संबोधने के लिए [उत्तं] कहा है ।

+ बोधपाहुड पूर्वाचार्यों के अनुसार कहा है -

सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥६१॥

अन्वयार्थ : [सद्दवियारो] शब्द के विकार से [हूओ] उत्पन्न हुए [भासासुत्तेसु] भाषासूत्रों के द्वारा [जं जिणे कहियं] जैसा जिनदेव ने कहा, [सो तह कहियं] वैसा कहता हूँ जैसा [भद्दबाहुस्स] भद्रबाहू के [सीसेण] शिष्य से [णायं] जाना है ॥

+ भद्रबाहु स्वामी की स्तुतिरूप वचन -

बारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयउ ॥६२॥

अन्वयार्थ : [भद्दबाहू] भद्रबाहु आचार्य जिनको [बारसअंगवियाणं] बारह अंगों का विशेष ज्ञान है, [चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं] जिनको चौदह पूर्वों का विपुल विस्तार है, इसीलिए [सुयणाणि] श्रुतज्ञानी हैं, [गमयगुरू] गमक गुरु है, [भयवओ] भगवान हैं, वे [जयउ] जयवंत होंगे ।

भाव-पाहुड

+ मंगलाचरण कर ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा -

णमिऊण जिणवरिं दे णरसुरभवणिंदवंदिए सिद्धे वोच्छामि भावपाहुडमवसेसे संजदे सिरसा ॥१॥

अन्वयार्थ : [णरसुरभवणिद्वंद्वे] मनुष्य, देव, पातालवासी देव -- इनके इन्द्रों के द्वारा वंदने योग्य [जिणवरि दे] अरिहंत [सिद्धे] सिद्ध [अवसेसे संजदे] शेष संयतों को [सिरसा] मस्तक से [णमिऊण] नमस्कार करके [भावपाहुडम] भाव-पाहुड को [वोच्छामि] कहूँगा ।

+ दो प्रकार के लिंग में भावलिंग परमार्थ -

भावो हि पढमलिंगं, ण दव्वलिंगं च जाण परमत्थं
भावो कारणभूदो, गुणदोसाणं जिणा वेन्ति ॥२॥

अन्वयार्थ : [भावो हि पढमलिंगं] भाव प्रथम लिंग है [ण दव्वलिंगं च] द्रव्य-लिंग नहीं [जाण परमत्थं] ऐसा निश्चय से जान, क्योंकि [गुणदोसाणं] गुण और दोषों का [कारणभूदो] कारणभूत [भावो] भाव ही है, इसप्रकार [जिणा] जिन भगवान [वेन्ति] कहते हैं ।

+ बाह्यद्रव्य के त्याग की प्रेरणा -

भावविसुद्धिणिमित्तं, बहिरंगस्स कीरए चाओ
बाहिरचाओ विहलो, अब्भंतरगंथजुत्तस्स ॥३॥

अन्वयार्थ : [भावविसुद्धिणिमित्तं] भावों की विशुद्धि के लिए [बहिरंगस्स] बाह्य परिग्रह का [कीरए चाओ] त्याग किया जाता है, [अब्भंतरगंथजुत्तस्स] अभ्यन्तर परिग्रह से युक्त के [बाहिरचाओ] बाह्य परिग्रह का त्याग [विहलो] निष्फल है ।

+ करोड़ों भावों के भाव रहित तप द्वारा भी सिद्धि नहीं -

भावरहिओ ण सिज्झइ जइ वि तवं चरइ कोडिकोडीओ
जम्मंतराइ बहुसो लंवियहत्यो गलियवत्यो ॥४॥

अन्वयार्थ : [जइ] यदि [कोडिकोडीओ] कोडाकोडि [जम्मंतराइ] जन्मान्तरों तक [बहुसो] बहुत प्रकार से [लंवियहत्यो] हाथ लम्बे लटकाकर, [गलियवत्यो] वस्त्रादिक का त्याग करके [तवं चरइ] तपश्चरण करे, [वि] तो भी [भावरहिओ] भाव-रहित को [ण सिज्झइ] सिद्धि नहीं होती है ।

+ इस ही अर्थ को दृढ़ करते हैं -

परिणामम्मि असुद्धे गंथे मुञ्चेइ बाहिरे य जई
बाहिरगंथच्चाओ भावविहूणस्स किं कुणइ ॥५॥

अन्वयार्थ : [जई] यदि [परिणामम्मि] परिणाम [असुद्धे] अशुद्ध होते हुए [बाहिरे] बाह्य [गंथे मुञ्चेइ] परिग्रह [च] आदि को छोड़े तो [बाहिरगंथच्चाओ] बाह्य परिग्रह का त्याग उस [भावविहूणस्स] भावरहित को [किं कुणइ] क्या करे ? अर्थात् कुछ भी लाभ नहीं करता है ।

+ भाव को परमार्थ जानकर इसी को अंगीकार करो -

जाणहि भावं पढमं किं ते लिंगेण भावरहिण
पंथिय सिवपुरिपंथं जिणउवइट्ठं पयत्तेण ॥६॥

अन्वयार्थ : [जाणहि भावं पढमं] प्रथम भाव को जान, [किं ते लिंगेण भावरहिण] भावरहित लिंग से तुझे क्या प्रयोजन है ? [पंथिय सिवपुरिपंथं] शिवपुरी का पंथ [जिणउवइट्ठं पयत्तेण] जिनभगवंतो ने प्रयत्न-साध्य कहा है ।

+ भाव-रहित द्रव्य-लिंग बहुत बार धारण किये, परन्तु सिद्धि नहीं हुई -

भावरहिण सपुरिस अणाइकालं अणंतसंसारे
गहिउज्झियाइ बहुसो बाहिरणिगंथरूवाइ ॥७॥

अन्वयार्थ : [सपुरिस] हे सत्पुरुष ! [अणाइकालं] अनादिकाल से लगाकर इस [अणंतसंसारे] अनन्त संसार में तूने [भावरहिण] भाव-रहित [बाहिरणिगंथरूवाइ] बाह्य में निर्ग्रन्थ रूप [बहुसो] बहुत बार [गहिउज्झियाइ] ग्रहण किये

और छोड़े ।

+ भाव-रहितपने के कारण चारों गतियों में दुःख प्राप्ति -

**भीसणणरयगईए तिरियगईए कुदेवमणुगइए
पत्तो सि तिब्बदुक्खं भावहि जिणभावणा जीव ! ॥८॥**

अन्वयार्थ : हे जीव ! तूने [भीसणणरयगईए] भीषण (भयंकर) नरकगति तथा [तिरियगईए] तिर्यचगति में और [कुदेवमणुगइए] कुदेव, कुमनुष्यगति में [तिब्बदुक्खं] तीव्र दुःख [पत्तो सि] पाये हैं, अतः अब तू [जिणभावणा] जिनभावना (शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना) [भावहि] भा ।

+ नरकगति के दुःख -

**सत्तसु णरयावासे दारुणभीमाइं असहणीयाइं
भुताइं सुइरकालं दुःक्खाइं णिरंतरं सहियं ॥९॥**

अन्वयार्थ : हे जीव ! तूने [सत्तसु] सात [णरयावासे] नरकभूमियों के नरक-आवास बिलों में [दारुणभीमाइं] दारुण (तीव्र) तथा भयानक और [असहणीयाइं] असहनीय [दुःक्खाइं] दुःखों को [सुइरकालं] बहुत दीर्घ काल तक [णिरंतरं] निरन्तर ही [भुताइं] भोगे और [सहियं] सहे ।

+ मनुष्यगति के दुःख -

**खणणुत्तावणवालण, वेयणविच्छेयणाणिरोहं च
पत्तोसि भावरहिओ, तिरियगईए चिरं कालं ॥१०॥**

अन्वयार्थ : हे जीव ! तूने [तिरियगईए] तिर्यचगति में [खणणुत्तावणवालण] खनन, उत्तापन, ज्वलन, [वेयणविच्छेयणाणिरोहं] वेदन, व्युच्छेदन, निरोधन [च] इत्यादि दुःख (सम्यग्दर्शन आदि) [भावरहिओ] भावरहित होकर [चिरं कालं] बहुत काल तक [पत्तोसि] प्राप्त किये ।

+ तिर्यचगति के दुःख -

**आगंतुक माणसियं सहजं सारीरियं च चत्तारि
दुक्खाइं मणुयजम्मे पत्तो सि अणंतयं कालं ॥११॥**

अन्वयार्थ : [मणुयजम्मे] मनुष्य-जन्म में [अणंतयं कालं] अनन्तकाल तक [आगंतुक] अकस्मात् (वज्रपातादिक का आ-गिरना), [माणसियं] मानसिक (विषयों की वांछा का होना और तदनुसार न मिलना), [सहजं] सहज (माता, पितादि द्वारा सहज से ही उत्पन्न हुआ तथा राग-द्वेषादिक से वस्तु के इष्ट-अनिष्ट मानने के दुःख का होना), [सारीरियं] शारीरिक (व्याधि, रोगादिक तथा परकृत छेदन, भेदन आदि) से हुए [दुक्खाइं] दुःख ये [चत्तारि] चार प्रकार के और चकार से इनको आदि लेकर अनेक प्रकारके दुःख [पत्तो सि] पाये ।

+ देवगति के दुःख -

**सुरणिलयेसु सुरच्छरविओयकाले य माणसं तिब्बं
संपत्तो सि महाजस दुःखं सुहभावणारहिओ ॥१२॥**

अन्वयार्थ : [महाजस] हे महायश ! तूने [सुहभावणारहिओ] शुभभावना से रहित होकर [सुरणिलयेसु] देवलोक में [सुरच्छरविओयकाले] सुराप्सरा अर्थात् प्यारे देव [य] तथा प्यारी अप्सरा के वियोग-काल में उसके वियोग सम्बन्धी दुःख तथा [माणसं] मानसिक [तिब्बं] तीव्र [दुःखं] दुःखों को [संपत्तो सि] पाये हैं ।

+ अशुभ भावना द्वारा देवों में भी दुःख -

**कंदप्पमाइयाओ पंच वि असुहादिभावणाई य
भाऊण दव्वलिंगी पहीणदेवो दिवे जाओ ॥१३॥**

अन्वयार्थ : तू [दव्वलिंगी] द्रव्यलिंगी मुनि होकर [कंदप्पमाइयाओ] कान्दर्पी [पंच वि य] आदि पाँच [असुहादिभावणाई] अशुभ भावना [भाऊण] भाकर [पहीणदेवो] नीच देव होकर [दिवे] स्वर्ग में [जाओ] उत्पन्न हुआ ।

+ पार्श्वस्थ भावना से दुःख -

**पासत्थभावणाओ अणाइकालं अणेयवाराओ
भाऊण दुहं पत्तो कुभावणाभावबीएहिं ॥१४॥**

अन्वयार्थ : हे जीव ! तू पार्श्वस्थ भावना से अनादिकाल से लेकर अनन्त-बार भाकर दुःख को प्राप्त हुआ । किससे दुःख पाया ? कुभावना अर्थात् खोटी भावना, उसका भाव वे ही हुए दुःख के बीज, उनसे दुःख पाया ।

+ देव होकर मानसिक दुःख पाये -

**देवाण गुण विहूई इड्डी माहप्प बहुविहं दट्ठं
होऊण हीणदेवो पत्तो बहु माणसं दुक्खं ॥१५॥**

अन्वयार्थ : स्वर्ग में हीन देव होकर बड़े ऋद्धिधारी देव के अणिमादि गुण की विभूति देखे तथा देवांगना आदि का बहुत परिवार देखे और आज्ञा, ऐश्वर्य आदिका माहात्म्य देखे तब मन में इसप्रकार विचारे कि मैं पुण्य-रहित हूँ, ये बड़े पुण्यवान् हैं, इनके ऐसी विभूति माहात्म्य ऋद्धि है, इसप्रकार विचार करने से मानसिक दुःख होता है ।

+ अशुभ भावना से नीच देव होकर दुःख पाते हैं -

**चउविहविकहासत्तो मयमत्तो असुहभावपयडत्थो
होऊण कुदेवत्तं पत्तो सि अणेयवाराओ ॥१६॥**

अन्वयार्थ : हे जीव ! तू चार प्रकार की विकथा में आसक्त होकर, मद से मत्त और जिसके अशुभ भावना का ही प्रकट प्रयोजन है इसप्रकार अनेकबार कुदेवपने को प्राप्त हुआ ।

+ मनुष्य-तिर्यच होवे, वहाँ गर्भ के दुःख -

**असुईबीहत्येहि य कलिमलबहुलाहि गब्भवसहीहि
वसिओ सि चिरं कालं अणेयजणणीण मुणिपवर ॥१७॥**

अन्वयार्थ : हे मुनिप्रवर ! तू कुदेवयोनि से चयकर अनेक माताओं की गर्भ की बस्ती में बहुत काल रहा । कैसी हैं वह बस्ती ? अशुचि अर्थात् अपवित्र है, बीभत्स (घिनावनी) है और उसमें कलिमल बहुत है अर्थात् पापरूप मलिन मल की अधिकता है ।

+ अनंतों बार गर्भवास के दुःख प्राप्त किये -

**पीओ सि थणच्छीरं अणंतजम्मंतराइं जणणीणं
अण्णाण्णाण महाजस सायरसलिलादु अहिययरं ॥१८॥**

अन्वयार्थ : हे महायश ! उस पूर्वोक्त गर्भवास में अन्य-अन्य जन्म में अन्य-अन्य माता के स्तन का दूध तूने समुद्र के जल से भी अतिशयकर अधिक पिया है ।

+ मरण द्वारा दुखी हुआ -

**तुह मरणे दुक्खेण अण्णाण्णाणं अणेयजणणीणं
रुण्णाण णयणणीरं सायरसलिलादु अहिययरं ॥१९॥**

अन्वयार्थ : हे मुने ! तूने माता के गर्भ में रहकर जन्म लेकर मरण किया, वह तेरे मरण से अन्य-अन्य जन्म में अन्य-अन्य माता के रुदन के नयनों का नीर एकत्र करें तब समुद्र के जल से भी अतिशयकर अधिकगुणा हो जावे अर्थात् अनन्तगुणा हो जावे ।

+ अनन्त बार संसार में जन्म लिया -

**भवसायरे अणंते छिण्णुज्झिय केसणहरणालट्ठी
पुञ्जइ जइ को वि जए हवदि य गिरिसमधिया रासी ॥२०॥**

अन्वयार्थ : हे मुने ! इस अनन्त संसारसागर में तूने जन्म लिये उनमें केश, नख, नाल और अस्थि कटे, टूटे उनका यदि देव पुंज करे तो मेरु पर्वत से भी अधिक राशि हो जावे, अनन्तगुणा हो जावे ।

+ जल-थल आदि स्थानों में सब जगह रहा -

**जलथलसिहिपवणंबरगिरिसरिदरितरुवणाइ सव्वत्थ
वसिओ सि चिरं कालं तिहुवणमज्झे अणप्पवसो ॥२१॥**

अन्वयार्थ : हे जीव ! तू जल में, थल अर्थात् भूमि में, शिखि अर्थात् अग्नि में, पवन में, अम्बर अर्थात् आकाश में, गिरि अर्थात् पवन में, सरित् अर्थात् नदीमें, दरी अर्थात् पवन की गुफा में, तरु अर्थात् वृक्षों में, वनों में और अधिक क्या कहें सब ही स्थानों में, तीन लोक में अनात्मवश अर्थात् पराधीन होकर बहुत काल तक रहा अर्थात् निवास किया ।

+ लोक में सर्व पुद्गल भक्षण किये तो भी अतृप्त रहा -

**गसियाइं पुगलाइं भुवणोदरवित्तियाइं सव्वाइं
पत्तो सि तो ण तित्तिं पुणरुत्तं ताइं भुञ्जंतो ॥२२॥**

अन्वयार्थ : हे जीव ! तूने इस लोक के उदर में वर्तते जो पुद्गल स्कन्ध, उन सबको ग्रसे अर्थात् भक्षण किये और उनही को पुनरुक्त अर्थात् बारबार भोगता हुआ भी तृप्ति को प्राप्त न हुआ ।

+ समस्त जल पीया फिर भी प्यासा रहा -

**तिहुयणसलिलं सयलं पीयं तिण्हाए पीडिएण तुमे
तो वि ण तण्हाछेओ जाओ चिंतेह भवमहणं ॥२३॥**

अन्वयार्थ : हे जीव ! तूने इस लोक में तृष्णा से पीड़ित होकर तीन लोक का समस्त जल पिया, तो भी तृष्णा का व्युच्छेद न हुआ अर्थात् प्यास न बुझी, इसलिये तू इस संसार का मथन अर्थात् तेरे संसार का नाश हो, इसप्रकार निश्चय रत्नत्रय का चिन्तन कर ।

+ अनेक बार शरीर ग्रहण किया -

**गहिउज्झियाइं मुणिवर कलेवराइं तुमे अणेयाइं
ताणं णत्थि पमाणं अणंतभवसायरे धीर ॥२४॥**

अन्वयार्थ : हे मुनिवर ! हे धीर ! तूने इस अनन्त भवसागर में कलेवर अर्थात् शरीर अनेक ग्रहण किये और छोड़े, उनका परिमाण नहीं है ।

+ आयुकर्म अनेक प्रकार से क्षीण हो जाता है -

**विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसेणं
आहारुस्सासाणं गिरोहणा खिज्जए आऊ ॥२५॥
हिमजलणसलिलगुरुयरपव्वयतरुरुहणपडणभंगेहिं
रसविज्जजोयधारण अणयपसंगेहिं विविहेहिं ॥२६॥
इय तिरियमणुयजम्मे सुइरं उववज्जिऊण बहुवारं
अवमिच्चुमहादुक्खं तिव्वं पत्तो सि तं मित्त ॥२७॥**

अन्वयार्थ : विषभक्षण से, वेदना की पीड़ा के निमित्त से, रक्त अर्थात् रुधिर के क्षय से, भय से, शस्त्र के घात से, संक्लेश परिणाम से, आहार तथा श्वास के निरोध से इन कारणों से आयु का क्षय होता है ।
हिम अर्थात् शीत पाले से, अग्नि से, जल से, बड़े पर्वत पर चढ़कर पड़ने से, बड़े वृक्ष पर चढ़कर गिरने से, शरीर का भंग होने से, रस अर्थात् पारा आदि की विद्या उसके संयोग से धारण करके भक्षण करे इससे, और अन्याय कार्य, चोरी, व्यभिचार आदि के निमित्त से -- इसप्रकार अनेक-प्रकार के कारणों से आयु का व्युच्छेद (नाश) होकर कुमरण होता है ।
इसलिये कहते हैं कि हे मित्र ! इसप्रकार तिर्यच, मनुष्य जन्म में बहुतकाल बहुतबार उत्पन्न होकर अपमृत्यु अर्थात् कुमरण सम्बन्धी तीव्र महादुःख को प्राप्त हुआ ।

+ निगोद के दुःख -

**छत्तीस तिण्णि सया छावट्टिसहस्सवारमरणाणि
अतोमुहुत्तमज्झे पत्तो सि निगोयवासम्मि ॥२८॥**

अन्वयार्थ : हे आत्मन् तू निगोद के वासमें एक अंतर्मुहूर्त में छ्यासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार मरण को प्राप्त हुआ ।

+ क्षुद्रभव -- अंतर्मुहूर्त के जन्म-मरण -

**वियलिंग्ग असीदी सट्ठ चालीसमेव जाणेह
पंचिंदिय चउवीसं खुद्दभावंतोमुहुत्तस्स ॥२९॥**

अन्वयार्थ : इस अन्तर्मुहूर्त के भवों में दो इन्द्रिय के क्षुद्र-भव अस्सी, तेइन्द्रिय के साठ, चौइन्द्रिय के चालीस और पंचेन्द्रिय के चौबीस, इसप्रकार हे आत्मन् ! तू क्षुद्र-भव जान ।

+ इसलिए अब रत्नत्रय धारण कर -

**रयणत्तये अलद्धे एवं भमिओ सि दीहसंसारे
इय जिणवरेहिं भणियं तं रयणत्तय समायरह ॥३०॥**

अन्वयार्थ : हे जीव ! तूने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यरूप रत्नत्रय को नहीं पाया, इसलिये इस दीर्घकाल से -- अनादि संसार में पहिले कहे अनुसार भ्रमण किया, इसप्रकार जानकर अब तू उस रत्नत्रय का आचरण कर, इसप्रकार जिनेश्वरदेव ने कहा है ।

+ रत्नत्रय इसप्रकार है -

**अप्पा अप्पम्मि रओ सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जीवो
जाणइ तं सण्णाणं चरदिहं चारित्त मग्गो त्ति ॥३१॥**

अन्वयार्थ : जो आत्मा आत्मा में रत होकर यथार्थरूप का अनुभव कर तद्रूप होकर श्रद्धान करे वह प्रगट सम्यग्दृष्टि होता है, उस आत्मा को जानना सम्यग्ज्ञान है, उस आत्मा में आचरण करके राग-द्वेष-रूप न परिणमना सम्यक्चारित्र्य है । इसप्रकार यह निश्चय-रत्नत्रय है, मोक्षमार्ग है ।

+ सुमरण का उपदेश -

**अण्णे कुमरणमरणं अण्यजम्मंतराइं मरिओ सि
भावहि सुमरणमरणं जरमरणविणासणं जीव ! ॥३२॥**

अन्वयार्थ : हे जीव ! इस संसार में अनेक जन्मान्तरों में अन्य कुमरण मरण जैसे होते हैं वैसे तू मरा । अब तू जिस मरण का नाश हो जाय इसप्रकार सुमरण भा अर्थात् समाधिमरण की भावना कर ।

+ क्षेत्र-परावर्तन -

**सो णत्थि दव्वसवणो परमाणुपमाणमेत्तओ णिलओ
जत्थ ण जाओ ण मओ तियलोपमाणिओ सव्वो ॥३३॥**

अन्वयार्थ : यह जीव द्रव्यलिंग का धारक मुनिपना होते हुए भी जो तीन-लोक प्रमाण सर्व स्थान हैं उनमें एक परमाणु-परिणाम एक प्रदेशमात्र भी ऐसा स्थान नहीं है कि जहाँ जन्म-मरण न किया हो ।

+ काल-परावर्तन -

**कालमणंतं जीवो जम्मजरामरणपीडिओ दुक्खं
जिणलिंगेण वि पत्तो परंपराभावरहिण ॥३४॥**

अन्वयार्थ : यह जीव इस संसार में जिसमें परम्परा भाव-लिंग न होने से अनंत-काल पर्यन्त जन्म-जरा-मरण से पीड़ित दुःख को ही प्राप्त हुआ ।

+ द्रव्य-परावर्तन -

**पडिदेससमयपुग्गलआउगपरिणामणामकालट्ठं
गहिउज्झियाइं बहुसो अणंतभवसायरे जीव ॥३५॥**

अन्वयार्थ : इस जीव ने इस अनन्त अपार भव-समुद्र में लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं उन प्रति समय समय और पर्याय के आयुप्रमाण काल और अपने जैसा योगकषाय के परिणमन-स्वरूप परिणाम और जैसा गति-जाति आदि नाम-कर्म के उदय से हुआ नाम और काल जैसा उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी उनमें पुद्गल के परमाणुरूप स्कन्ध, उनको बहुतबार / अनन्तबार ग्रहण किये और छोड़े ।

+ क्षेत्र परावर्तन -

**तेयाला तिण्णि सया रज्जूणं लोयखेत्तपरिमाणं
मुत्तूणट्ठ पएसा जत्थ जण दुरुदुल्लिओ जीवो ॥३६॥**

अन्वयार्थ : यह लोक तीनसौ तेतालीस राजू परिमाण क्षेत्र है, उसको बीच मेरु के नीचे गोस्तनाकार आठ प्रदेश हैं, उनको छोड़कर अन्य प्रदेश ऐसा न रहा जिसमें यह जीव नहीं जन्मा-मरा हो ।

+ शरीर में रोग का वर्णन -

**एक्केक्कंगुलि वाही छण्णवदी होंति जाण मणुयाणं
अवसेसे य सरीरे रोया भण कित्तिया भणिया ॥३७॥**

अन्वयार्थ : इस मनुष्य के शरीर में एक-एक अंगुल में छ्यानवे-छ्यानवे रोग होते हैं, तब कहो, अवशेष समस्त शरीर में कितने रोग कहें ।

+ उन रोगों का दुःख तूने बहुत सहा -

**ते रोया वि य सयला सहिया ते परवसेण पुव्वभवे
एवं सहसि महाजस किं वा बहुएहिं लविएहिं ॥३८॥**

अन्वयार्थ : हे महायश ! हे मुने ! तूने पूर्वोक्त रोगोंको पूर्वभवों में तो परवश सहे, इसप्रकार ही फिर सहेगा, बहुत कहने से क्या ?

+ अपवित्र गर्भवास में भी रहा -

**पित्तंतमुत्तफेफसकालिज्जयरुहिरखरिसकिमिजाले
उयरे वसिओ सि चिरं णवदसमासेहिं पत्तेहिं ॥३९॥**

अन्वयार्थ : हे मुने ! तूने इस प्रकार के मलिन अपवित्र उदर में नव मास तथा दश मास प्राप्त कर रहा । कैसा है उदर ? जिसमें पित्त और आंतों से वेष्टित, मूत्र का स्रवण, फेफस अर्थात् जो रुधिर बिना मेद फूल जावे, कालिज्ज अर्थात् कलेजा, खून, खरिस अर्थात् अपक्व मल में मिला हुआ रुधिर श्लेष्म और कृमिजाल अर्थात् लट आदि जीवों के समूह ये सब पाये जाते हैं -- इसप्रकार स्त्री के उदर में बहुत बार रहा ।

+ फिर इसी को कहते हैं -

दियसंगट्टियमसणं आहारिय मायभुत्तमण्णांते छद्दिखरिसाण मज्झे जढरे वसिओ सि जणणीए ॥४०॥

अन्वयार्थ : हे जीव ! तू जननी (माता) के उदर (गर्भ) में रहा, वहाँ माता के और पिता के भोग के अन्त, छर्द्दि (वमन) का अन्न, खरिस (रुधिरसे मिला हुआ अपक्व मल) के बीचमें रहा, कैसा रहा ? माताके दाँतों से चबाया हुआ और उन दाँतों के लगा हुआ (रुका हुआ) झूठा भोजन माता के खाने के पीछे जो उदर में गया उसके रसरूपी आहार से रहा ।

+ बालकपन में भी अज्ञान-जनित दुःख -

सिसुकाले य अयाणे असुईमज्झम्मि लोलिओ सि तुमं असुई असिया बहुसो मुणिवर बालत्तपत्तेण ॥४१॥

अन्वयार्थ : हे मुनिवर ! तू बचपन के समय में अज्ञान अवस्था में अशुचि (अपवित्र) स्थानों में अशुचि के बीच लेटा और बहुत बार अशुचि वस्तु ही खाई, बचपन को पाकर इसप्रकार चेष्टायें की ।

+ देह के स्वरूप का विचार करो -

मंसट्टिसुक्कसोमियपित्ततसवत्तकुणिमदुग्गंधं खरिसवसापूय खिब्भिस भरियं चिंतेहि देहउडं ॥४२॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! तू देहरूप घट को इसप्रकार विचार, कैसा है देहघट ? मांस, हाड़, शुक्र (वीर्य), श्रोणित (रुधिर), पित्त (उष्ण विकार) और अंत्र (अँतड़ियाँ) आदि द्वारा तत्काल मृतक की तरह दुर्गंध है तथा खरिस (रुधिरसे मिला अपक्वमल), वसा (मेद), पूय (खराब खून) और राध, इन सब मलिन वस्तुओं से पूरा भरा है, इसप्रकार देहरूप घट का विचार करो ।

+ अन्तरंग से छोड़ने का उपदेश -

भावविमुत्तो मुत्तो ण य मुत्तो बंधवाइमित्तेण इय भाविऊण उज्झसु गंधं अब्भंतरं धीर ॥४३॥

अन्वयार्थ : जो मुनि भावों से मुक्त हुआ उसी को मुक्त कहते हैं और बांधव आदि कुटुम्ब तथा मित्र आदि से मुक्त हुआ उसको मुक्त नहीं कहते हैं, इसलिये हे धीर मुनि ! तू इसप्रकार जानकर अभ्यन्तर की वासना को छोड़ ।

+ भावशुद्धि बिना सिद्धि नहीं -- उदाहरण बाहुबली -

देहादिचत्तसंगो माणकसाएण कलुसिओ धीर ! अत्ताववेण जादो बाहुबली कित्तियं* कालं ॥४४॥

अन्वयार्थ : देखो, बाहुबली श्री ऋषभदेव का पुत्र देहादिक परिग्रह को छोड़कर निर्ग्रन्थ मुनि बन गया, तो भी मानकषाय से कलुष परिणामरूप होकर कुछ समय तक आतापन योग धारणकर स्थित हो गया, फिर भी सिद्धि नहीं पाई ।

+ मधुपिंगल मुनि का उदाहरण करते हैं -

महुपिंगो णाम मुणी देहाहारादिचत्तवावारो सवणत्तणं ण पत्तो णियाणमित्तेण भवियणुय ॥४५॥

अन्वयार्थ : मधुपिंगलनाम का मुनि कैसा हुआ ? देह आहारादि में व्यापार छोड़कर भी निदान-मात्र से भाव-श्रमणपने को प्राप्त नहीं हुआ, उसको भव्य-जीवों से नमने योग्य मुनि, तू देख ।

+ भावशुद्धि बिना सिद्धि नहीं -- वशिष्ठ मुनि -

अण्णं च वसिट्ठमुणी पत्तो दुक्खं णियाणदोसेण सो णत्थि वासठाणो जत्थ ण दुरुदुल्लिओ जीवो ॥४६॥

अन्वयार्थ : अन्य और एक वशिष्ठ नामक मुनि निदान के दोषसे दुःख को प्राप्त हुआ, इसलिये लोक में ऐसा वासस्थान नहीं है जिसमें यह जीव जन्म-मरणसहित भ्रमण को प्राप्त नहीं हुआ ।

+ भावरहित चौरासी लाख योनियों में भ्रमण -

सो णत्थि तप्पएसो चउरासीलक्खजोणिवासम्मि भावविरओ वि सवणो जत्थ ण दुरुदुल्लिओ जीव ॥४७॥

अन्वयार्थ : इस संसार में चौरासीलाख योनि, उनके निवास में ऐसा कोई देश नहीं है जिसमें इस जीव ने द्रव्य-लिंगी मुनि होकर भी भाव-रहित होता हुआ भ्रमण न किया हो ।

+ द्रव्य-मात्र से लिंगी नहीं, भाव से होता है -

भावेण होइ लिंगी ण हु लिंगी होइ दव्वमित्तेण तम्हा कुणिज्ज भावं किं कीरइ दव्वलिंगेण ॥४८॥

अन्वयार्थ : लिंगी होता है सो भाव-लिंग ही से होता है, द्रव्य-लिंग से लिंगी नहीं होता है यह प्रकट है; इसलिये भाव-लिंग ही धारण करना, द्रव्य-लिंग से क्या सिद्ध होता है ?

+ द्रव्यलिंगधारक को उलटा उपद्रव हुआ -- उदाहरण -

दंडयणयरं सयलं डहिओ अब्भंतरेण दोसेण जिणलिंगेण वि बाहु पडिओ सो रउरवे णरए ॥४९॥

अन्वयार्थ : देखो, बाहु नामक मुनि बाह्य जिन-लिंग सहित था तो भी अभ्यन्तर के दोष से समस्त दंडक नामक नगर को दग्ध किया और सप्तम पृथ्वी के रौरव नामक बिल में गिरा ।

+ दीपायन मुनि का उदाहरण -

अवरो वि दव्वसवणो दंसणवरणाणचरणपब्भट्ठो दीवायणो त्ति णामो अणंतसंसारिओ जाओ ॥५०॥

अन्वयार्थ : आचार्य कहते हैं कि जैसे पहिले बाहु मुनि कहा वैसे ही और भी दीपायन नामका द्रव्य-भ्रमण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य से भ्रष्ट होकर अनन्त-संसारी हुआ है ।

+ भाव-शुद्धि सहित मुनि हुए उन्होंने सिद्धि पाई, उसका उदाहरण -

भावसमणो य धीरो जुवईजणवेढिओ विसुद्धमई णामेण सिवकुमारो परीत्तसंसारिओ जादो ॥५१॥

अन्वयार्थ : शिवकुमार नामक भाव-भ्रमण स्त्रीजनों से वेष्टित होते हुए भी विशुद्ध-बुद्धि का धारक धीर संसार को त्यागनेवाला हुआ ।

+ भाव-शुद्धि बिना शास्त्र भी पढ़े तो सिद्धि नहीं -- उदाहरण अभव्यसेन -

केवलिजिणपण्णत्तं एयादसअंग सयलसुयणाणं पढिओ अभव्वसेणो ण भावसवणत्तणं पत्तो ॥५२॥

अन्वयार्थ : अभव्यसेन नाम के द्रव्यलिंगी मुनि ने केवली भगवान से उपदिष्ट ग्यारह अंग पढ़े और ग्यारह अंग को पूर्ण श्रुतज्ञान भी कहते हैं, क्योंकि इतने पढ़े हुए को अर्थअपेक्षा पूर्ण श्रुतज्ञान भी हो जाता है । अभव्यसेन इतना पढ़ा, तो भी भाव-भ्रमणपने को प्राप्त न हुआ ।

+ शास्त्र पढ़े बिना भी भाव-विशुद्धि द्वारा सिद्धी -- उदाहरण शिवभूति मुनि -

**तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य
णामेव य शिवभूई केवलीणाणी फुडं जाओ ॥५३॥**

अन्वयार्थ : आचार्य कहते हैं कि शिवभूति मुनि ने शास्त्र नहीं पढ़े थे, परन्तु तुष-माष ऐसे शब्द को रटते हुए भावों की विशुद्धता से महानुभाव होकर केवलज्ञान पाया, यह प्रकट है ।

+ इसी अर्थ को सामान्यरूप से कहते हैं -

**भावेण होइ णगो बाहिरलिंगेण किं च णगोण
कम्मपयडीण णियरं णासइ भावेण दव्वेण ॥५४॥**

अन्वयार्थ : भाव से नग्न होता है, बाह्य नग्न लिंग से क्या कार्य होता है ? अर्थात् नहीं होता है, क्योंकि भाव-सहित द्रव्य-लिंग से कर्म-प्रकृति के समूह का नाश होता है ।

+ इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं -

**णगगतणं अकज्जं भावणरहियं जिणेहिं पण्णत्तं
इय जाऊण य णिच्चं भाविज्जहि अप्पयं धीर ॥५५॥**

अन्वयार्थ : भावरहित नग्नत्व अकार्य है, कुछ कार्यकारी नहीं है । ऐसा जिन भगवान ने कहा है । इसप्रकार जानकर हे धीर ! धैर्यवान मुने ! निरन्तर नित्य आत्मा की ही भावना कर ।

+ भावलिंग का निरूपण करते हैं -

**देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो
अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू ॥५६॥**

अन्वयार्थ : भावलिंगी साधु ऐसा होता है -- देहादिक परिग्रहों से रहित होता है तथा मान कषाय से रहित होता है और आत्मा में लीन होता है, वही आत्मा भाव-लिंगी है ।

+ इसी अर्थ को स्पष्ट कर कहते हैं -

**ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो
आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं बोसरे ॥५७॥**

अन्वयार्थ : भाव-लिंगी मुनि के इसप्रकार के भाव होते हैं -- मैं पर-द्रव्य और पर-भावों से ममत्व (अपना मानना) को छोड़ता हूँ और मेरा निज-भाव ममत्व-रहित है उसको अंगीकार कर स्थित हूँ । अब मुझे आत्मा का ही अवलंबन है, अन्य सभी को छोड़ता हूँ ।

+ ज्ञान, दर्शन, संयम, त्याग संवर और योग इनमें अभेद के अनुभव की प्रेरणा -

**आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥५८॥**

अन्वयार्थ : भावलिंगी मुनि विचारते हैं कि -- मेरे ज्ञानभाव प्रकट है, उसमें आत्मा की ही भावना है, ज्ञान कोई भिन्न वस्तु नहीं है, ज्ञान है वह आत्मा ही है, इसप्रकार ही दर्शन में भी आत्मा ही है । ज्ञान में स्थिर रहना चारित्र्य है, इसमें भी आत्मा ही है । प्रत्याख्यान (अर्थात् शुद्ध-निश्चयनय के विषयभूत स्वद्रव्य के आलंबनके बल से) आगामी पर-द्रव्य का सम्बन्ध छोड़ना है, इस भाव में भी आत्मा ही है, संवर ज्ञान-रूप रहना और परद्रव्य के भाव-रूप न परिणमना है, इस भाव में भी मेरा आत्मा ही है, और योग का अर्थ एकाग्र-चिन्ता-रूप समाधि-ध्यान है, इस भाव में भी मेरा आत्मा ही है ।

+ इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं -

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥५९॥

अन्वयार्थ : भावलिंगी मुनि विचारता है कि -- ज्ञान, दर्शन लक्षणरूप और शाश्वत अर्थात् नित्य ऐसा आत्मा है वही एक मेरा है । शेष भाव हैं वे मुझसे बाह्य हैं, वे सब ही संयोग-स्वरूप हैं, पर-द्रव्य हैं ।

+ जो मोक्ष चाहे वह इसप्रकार आत्मा की भावना करे -

भावेह भावसुद्धं अप्पा सुविसुद्धणिम्मलं चेव लहु चउगइ चइऊणं जइ इच्छह सासयं सुक्खं ॥६०॥

अन्वयार्थ : हे मुनिजनो ! यदि चार गतिरूप संसार से छूटकर शीघ्र शाश्वत सुख-रूप मोक्ष तुम चाहो तो भाव से शुद्ध जैसे हो वैसे अतिशय विशुद्ध निर्मल आत्मा को भावो ।

+ जो आत्मा को भावे वह इसके स्वभाव को जानकर भावे, वही मोक्ष पाता है -

जो जीवो भावंतो जीवसहावं सुभावसंजुत्तो सो जरमरणविणासं कुणइ फुडं लहइ णिव्वाणं ॥६१॥

अन्वयार्थ : जो भव्य-पुरुष जीव को भाता हुआ, भले भाव से संयुक्त हुआ जीव के स्वभाव को जानकर भावे, वह जरा-मरण का विनाश कर प्रगट निर्वाण को प्राप्त करता है ।

+ जीव का स्वरूप -

जीवो जिणपण्णत्तो णाणसहाओ य चेयणासहिओ सो जीवो णायव्वो कम्मक्खयकरणणिम्मित्तो ॥६२॥

अन्वयार्थ : जिन सर्वज्ञदेव ने जीव का स्वरूप इसप्रकार कहा है -- जीव है वह चेतना-सहित है और ज्ञान-स्वभाव है, इसप्रकार जीव की भावना करना, जो कर्म के क्षय के निमित्त जानना चाहिये ।

+ जो पुरुष जीव का अस्तित्व मानते हैं वे सिद्ध होते हैं :-

जेसिं जीवसहावो णत्थि अभावो य सव्वहा तत्थ ते होन्ति भिण्णदेहा सिद्धा वचिगोयरमदीदा ॥६३॥

अन्वयार्थ : जिन भव्यजीवों के जीव नामक पदार्थ सद्भावरूप है और सर्वथा अभावरूप नहीं है, वे भव्य-जीव देह से भिन्न तथा वचन-गोचरातीत सिद्ध होते हैं ।

+ वचन के अगोचर है और अनुभवगम्य जीव का स्वरूप इसप्रकार है -

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्धं जाण अलिंगगहणं जीवमणिद्धिसंठाणं ॥६४॥

अन्वयार्थ : हे भव्य ! तू जीव का स्वरूप इसप्रकार जान -- कैसा है ? अरस अर्थात् पांच प्रकार के खट्टे, मीठे, कड़ुवे, कषाय के और खारे रस से रहित है । काला, पीला, लाल, सफेद और हरा इसप्रकार अरूप अर्थात् पाँच प्रकार के रूप से रहित है । दो प्रकार की गंध से रहित है । अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों के गोचर-व्यक्त नहीं है । चेतना गुणवाला है । अशब्द अर्थात् शब्द-रहित है । अलिंगग्रहण अर्थात् जिसका कोई चिह्न इन्द्रिय द्वारा ग्रहण में नहीं आता है । अनिर्दिष्ट-संस्थान अर्थात् चौकोर, गोल आदि कुछ आकार उसका कहा नहीं जाता है, इसप्रकार जीव जानो ।

+ जीव का स्वभाव -- ज्ञानस्वरूप -

भावहि पंचपयारं णाणं अण्णाणणासणं सिग्घं भावणभावियसहिओ दिवसिवसुहभायणो होइ ॥६५॥

अन्वयार्थ : हे भव्यजन ! तू यह ज्ञान पाँच प्रकार से भा, कैसा है यह ज्ञान ? अज्ञान का नाश करनेवाला है, कैसा होकर भा ? भावना से भावित जो भाव उस सहित भा, शीघ्र भा, इससे तू दिव (स्वर्ग) और शिव (मोक्ष) का पात्र होगा ।

+ पढ़ना, सुनना भी भाव बिना कुछ नहीं है -

**पढिएण वि किं कीरइ किं वा सुणिएण भावरहिण
भावो कारणभूदो सायारणयारभूदाणं ॥६६॥**

अन्वयार्थ : भावरहित पढ़ने-सुनने से क्या होता है ? अर्थात् कुछ भी कार्यकारी नहीं है, इसलिये श्रावकत्व तथा मुनित्व इनका कारणभूत भाव ही है ।

+ यदि बाह्य नग्नपने से ही सिद्धि हो तो नग्न तो सब ही होते हैं -

**दव्वेण सयल णग्गा णारयतिरिया य सयलसंघाया
पारिणामेण असुद्धा ण भावसवणत्तणं पत्ता ॥६७॥**

अन्वयार्थ : द्रव्यसे बाह्य में तो सब प्राणी नग्न होते हैं । नारकी जीव और तिर्यच जीव तो निरन्तर वस्त्रादि से रहित नग्न ही रहते हैं । सकलसंघात कहने से अन्य मनुष्य आदि भी कारण पाकर नग्न होते हैं तो भी परिणामों से अशुद्ध हैं, इसलिये भाव-श्रमणपने को प्राप्त नहीं हुए ।

+ केवल नग्नपने की निष्फलता दिखाते हैं -

**णग्गो पावइ दुक्खं णग्गो संसारसायरे भमइ
णग्गो ण लहइ बोहिं जिणभावणवज्जिओ सुइरं ॥६८॥**

अन्वयार्थ : नग्न सदा दुःख पाता है, नग्न सदा संसार-समुद्र में भ्रमण करता है और नग्न बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप स्वानुभव को नहीं पाता है, कैसा है वह नग्न -- जो जिनभावना से रहित है ।

+ भाव-रहित द्रव्य-नग्न होकर मुनि कहलावे उसका अपयश होता है -

**अयसाण भावयेण य किं ते णग्गेम पावमलिणेण
पेसुण्णाहासमच्छरमायाबहुलेण सवणेण ॥६९॥**

अन्वयार्थ : हे मुने ! तेरे ऐसे नग्नपने से तथा मुनिपने से क्या साध्य है ? कैसा है -- पैशून्य अर्थात् दूसरे का दोष कहने का स्वभाव, हास्य अर्थात् दूसरे की हँसी करना, मत्सर अर्थात् अपने बराबरवाले से ईर्ष्या रखकर दूसरे को नीचा करने की वृत्ति, माया अर्थात् कुटिल परिणाम, ये भाव उसमें प्रचुरता से पाये जाते हैं, इसीलिये पाप से मलिन है और अयश अर्थात् अपकीर्ति का भाजन है ।

+ भावलिंगी होने का उपदेश करते हैं -

**पयडहिं जिणवरलिंगं अब्भितरभावदोसपरिसुद्धो
भावमलेण य जीवो बाहिरसंगमि मयलियइ ॥७०॥**

अन्वयार्थ : हे आत्मन् ! तू अभ्यन्तर भाव-दोषों से अत्यन्त शुद्ध ऐसा जिनवरलिंग अर्थात् बाह्य निर्ग्रन्थ लिंग प्रगट कर, भाव-शुद्धि के बिना द्रव्य-लिंग बिगड़ जायेगा, क्योंकि भाव-मलिन जीव बाह्य परिग्रह में मलिन होता है ।

+ भावरहित नग्न मुनि है वह हास्य का स्थान है -

**धम्ममि णिप्पवासो दोसावासो य उच्छुफुल्लसमो
णिप्फलणिग्गुणयारो णडसवणो णगगरूवेण ॥७१॥**

अन्वयार्थ : धर्म अर्थात् अपना स्वभाव तथा दसलक्षण-स्वरूप में जिसका वास नहीं है वह जीव दोषों का आवास है अथवा जिसमें दोष रहते हैं वह इक्षु के फूल के समान है, जिसके न तो कुछ फल ही लगते हैं और न उसमें गंधादिक गुण ही पाये जाते हैं । इसलिये ऐसा मुनि तो नग्नरूप करके नट-श्रमण अर्थात् नाचनेवाले भाँड़ के स्वांग के समान है ।

+ द्रव्यलिंगी बोधि-समाधि जैसी जिनमार्ग में कही है वैसी नहीं पाता है -

**जे रायसंगजुत्ता जिणभावणरहियदव्वणिग्गंथा
ण लहंति ते समाहिं बोहिं जिणसासणे विमले ॥७२॥**

अन्वयार्थ : जो मुनि राग अर्थात् अभ्यंतर पर-द्रव्य से प्रीति, वही हुआ संग अर्थात् परिग्रह उससे युक्त हैं और जिनभावना अर्थात् शुद्ध-स्वरूप की भावना से रहित हैं वे द्रव्य-निर्ग्रथ हैं तो भी निर्मल जिनशासन में जो समाधि अर्थात् धर्म-शुक्लध्यान और बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-स्वरूप मोक्ष-मार्ग को नहीं पाते हैं ।

+ पहिले भाव से नग्न हो, पीछे द्रव्यमुनि बने यह मार्ग है -

**भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताई य दोस चइऊणं
पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए ॥७३॥**

अन्वयार्थ : पहिले मिथ्यात्व आदि दोषों को छोड़कर और भाव से अंतरंग नग्न हो, एकरूप शुद्धआत्मा का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण करे, पीछे मुनि द्रव्य से बाह्य-लिंग जिन-आज्ञा से प्रकट करे, यह मार्ग है ।

+ शुद्ध भाव ही स्वर्ग-मोक्ष का कारण है, मलिनभाव संसार का कारण है -

**भावो वि दिव्वसिवसुक्खभायणो भाववज्जिओ सवणो
कम्ममलमलिणचित्तो तिरियालयभायणो पावो ॥७४॥**

अन्वयार्थ : भाव ही स्वर्ग-मोक्ष का कारण है, और भाव-रहित श्रमण पाप-स्वरूप है, तिर्यचगति का स्थान है तथा कर्म-मल से मलिन चित्तवाला है ।

+ भाव के फल का माहात्म्य -

**खयरामरमणुयकरंजलिमालाहिं च संथुया विऊला
चक्कहररायलच्छी लब्भइ बोही सुभावेण ॥७५॥**

अन्वयार्थ : सुभाव अर्थात् भले भावसे, मंद-कषाय-रूप विशुद्धभाव से, चक्रवर्ती आदि राजाओं की विपुल अर्थात् बड़ी लक्ष्मी पाता है । कैसी है -- खचर (विद्याधर), अमर (देव) और मनुज (मनुष्य) इनकी अंजुलिमाला (हारोंकी अंजुलि) की पंक्ति से संस्तुत (नमस्कारपूर्वक स्तुति करने योग्य) है और यह केवल लक्ष्मी ही नहीं पाता है, किन्तु बोधि (रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग) पाता है ।

+ भावों के भेद -

**भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं
असुहं च अट्टरउद्धं सुह धम्मं जिणवरिं देहिं ॥७६॥**

अन्वयार्थ : जिनवरदेव ने भाव तीन प्रकार का कहा है -- 1 शुभ, 2 अशुभ और 3 शुद्ध । आर्त्त और रौद्र ये अशुभ ध्यान हैं तथा धर्म-ध्यान शुभ है ।

+ भाव -- शुभ, अशुभ और शुद्ध । आर्त्त और रौद्र ये अशुभ ध्यान हैं तथा धर्मध्यान शुभ है -

**सुद्धं सुद्धसहावं अप्पा अप्पम्मि तं च णायव्वं
इदि जिणवरेहिं भणियं जं सेयं तं समायरह ॥७७॥**

अन्वयार्थ : शुद्ध है वह अपना शुद्ध-स्वभाव अपने ही में है इसप्रकार जिनवर देव ने कहा है, वह जानकर इनमें जो कल्याणरूप हो उसको अंगीकार करो ।

+ जिनशासन का इसप्रकार माहात्म्य है -

पयलियमाणकसाओ पयलियमिच्छत्तमोहसमचित्तो पावइ तिहुवणसारं बोहि जिणसासणे जीवो ॥७८॥

अन्वयार्थ : यह जीव प्रगलित-मान-कषायः अर्थात् जिसका मानकषाय प्रकर्षता से गल गया है, किसी पर-द्रव्य से अहंकाररूप गर्व नहीं करता है और जिसके मिथ्यात्व का उदयरूप मोह भी नष्ट हो गया है इसीलिये समचित्त है, पर-द्रव्य में ममकार रूप मिथ्यात्व और इष्ट-अनिष्ट बुद्धिरूप राग-द्वेष जिसके नहीं है, वह जिनशासन में तीन भुवन में सार ऐसी बोधि अर्थात् रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग को पाता है ।

+ ऐसा मुनि ही तीर्थकर-प्रकृति बाँधता है -

विसयविरत्तो समणो छद्दसवरकारणाइं भाऊण तित्थयरणामकम्मं बंधइ अइरेण कालेण ॥७९॥

अन्वयार्थ : जिसका चित्त इन्द्रियों के विषयोंसे विरक्त है ऐसा श्रमण अर्थात् मुनि है वह सोलहकारण भावना को भाकर तीर्थकर नाम प्रकृति को थोड़े ही समय में बाँध लेता है ।

+ भाव की विशुद्धता के लिए निमित्त आचरण कहते हैं -

बारसविहतवयरणं तेरसकिरियाउ भाव तिविहेण धरहि मणमत्तदुरियं णाणंकुसएण मुणिपवर ॥८०॥

अन्वयार्थ : हे मुनिप्रवर ! मुनियों में श्रेष्ठ ! तू बारह प्रकार के तपका आचरण कर और तेरह प्रकार की क्रिया मन-वचन-काया से भा और ज्ञानरूप अंकुश से मनरूप मतवाले हाथी को अपने वश में रख ।

+ द्रव्य-भावरूप सामान्यरूप से जिनलिंग का स्वरूप -

पंचविहचेलचायं खिदिसयणं दुविहसंजमं भिक्खू भावं भावियपुव्वं जिणलिंगं णिम्मलं सुद्धं ॥८१॥

अन्वयार्थ : निर्मल शुद्ध जिनलिंग इसप्रकार है -- जहाँ पाँच प्रकार के वस्त्र का त्याग है, भूमि पर शयन है, दो प्रकार का संयम है, भिक्षा भोजन है, भावित-पूर्व अर्थात् पहिले शुद्ध आत्मा का स्वरूप पर-द्रव्य से भिन्न सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयी हुआ, उसे बारंबार भावना से अनुभव किया इसप्रकार जिसमें भाव है, ऐसा निर्मल अर्थात् बाह्य-मल-रहित शुद्ध अर्थात् अन्तर्मल-रहित जिनलिंग है ।

+ जिनधर्म की महिमा -

जह रयणाणं पवरं वज्जं जह तरुगणाण गोसीरं तह धम्माणं पवरं जिणधम्मं भाविभवमहणं ॥८२॥

अन्वयार्थ : जैसे रत्नोमें प्रवर (श्रेष्ठ) उत्तम व्रज (हीरा) है और जैसे तरुगण (बड़े वृक्ष) में उत्तम गोसीर (बावन चन्दन) है, वैसे ही धर्मों में उत्तम भाविभवमथन (आगामी संसार का मथन करनेवाला) जिन-धर्म है, इससे मोक्ष होता है ।

+ धर्म का स्वरूप -

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥८३॥

अन्वयार्थ : जिनशासन में जिनेन्द्रदेव ने इसप्रकार कहा है कि -- पूजा आदिक में और व्रत-सहित होना है वह तो पुण्य ही है तथा मोह के क्षोभ से रहित जो आत्मा का परिणाम वह धर्म है ।

+ पुण्य ही को धर्म मानना केवल भोग का निमित्त, कर्मक्षय का नहीं -

**सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो वि फासेदि
पुण्णं भोयणिमित्तं ण हु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥८४॥**

अन्वयार्थ : जो पुरुष पुण्य को धर्म मानकर श्रद्धान करते हैं, प्रतीत करते हैं, रुचि करते हैं और स्पर्श करते हैं उनके पुण्य भोग का निमित्त है । इससे स्वर्गादिक भोग पाता है और वह पुण्य कर्म के क्षयका निमित्त नहीं होता है, यह प्रगट जानना चाहिये ।

+ आत्मा का स्वभावरूप धर्म ही मोक्ष का कारण -

**अप्पा अप्पम्मि रओ रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो
संसारतरणहेदू धम्मो त्ति जिणेहिं णिद्धिदुं ॥८५॥**

अन्वयार्थ : यदि आत्मा रागादिक समस्त दोषों से रहित होकर आत्मा ही में रत हो जाय तो ऐसे धर्म को जिनेश्वर-देव ने संसार-समुद्र में तिरने का कारण कहा है ।

+ आत्मा के लिए इष्ट बिना समस्त पुण्य के आचरण से सिद्धि नहीं -

**अह पुण अप्पा णिच्छदि पुण्णाइं करेदि णिरवसेसाइं
तह वि ण पावदि सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥८६॥**

अन्वयार्थ : अथवा जो पुरुष आत्मा का इष्ट नहीं करता है, उसका स्वरूप नहीं जानता है, अंगीकार नहीं करता है और सब प्रकार के समस्त पुण्य को करता है, तो भी सिद्धि (मोक्ष) को नहीं पाता है किन्तु वह पुरुष संसार ही में भ्रमण करता है ।

+ आत्मा ही का श्रद्धान करो, प्रयत्न-पूर्वक जानो, मोक्ष प्राप्त करो -

**एएण कारणेण य तं अप्पा सद्दहेह तिविहेण
जेण य लहेह मोक्खं तं जाणिज्जह पयत्तेण ॥८७॥**

अन्वयार्थ : पहिले कहा था कि आत्माका धर्म तो मोक्ष है, उसी कारणसे कहते हैं कि -- हे भव्यजीवो ! तुम उस आत्मा को प्रयत्न-पूर्वक सब प्रकार के उद्यम करके यथार्थ जानो, उस आत्मा का श्रद्धान करो, प्रतीत करो, आचरण करो । मन-वचन-काय से ऐसे करो जिससे मोक्ष पावो ।

+ बाह्य-हिंसादिक क्रिया के बिना, अशुद्ध-भाव से तंदुल मत्स्य नरक को गया -

**मच्छो वि सालिसित्थो असुद्धभावो गओ महाणरयं
इय णाउं अप्पाणं भावह जिणभावणं णिच्चं ॥८८॥**

अन्वयार्थ : हे भव्यजीव ! तू देख, शालिशिक्थ (तन्दुल नामका सत्य) वह भी अशुद्ध-भाव-स्वरूप होता हुआ महानरक (सातवें नरक) में गया, इसलिये तुझे उपदेश देते हैं कि अपनी आत्मा को जानने के लिए निरंतर जिनभावना कर ।

+ भावरहित के बाह्य परिग्रह का त्यागादिक निष्प्रयोजन -

**बाहिसंगच्चाओ गिरिसरिदरिकंदराइ आवासो
सयलो णाणज्झयणो णिरत्थओ भावरहियाणं ॥८९॥**

अन्वयार्थ : जो पुरुष भाव रहित हैं, शुद्ध आत्मा की भावना से रहित हैं और बाह्य आचरण से सन्तुष्ट हैं, उनके बाह्य परिग्रह का त्याग है वह निरर्थक है । गिरि (पर्वत) दरी (पर्वतकी गुफा) सरित् (नदीके पास) कंदर (पर्वतके जलसे चीरा हुआ स्थान) इत्यादि स्थानों में आवास (रहना) निरर्थक है । ध्यान करना, आसन द्वारा मन को रोकना, अध्ययन (पढ़ना) -- ये सब निरर्थक हैं ।

+ भावशुद्धि के लिये इन्द्रियादिक को वश करो, भावशुद्धि-रहित बाह्यभेष का आडम्बर मत करो -

भंजसु इन्द्रियसेणं भंजसु मणमक्कडं पयत्तेण मा जणरंजणकरणं बाहिरवयवेस तं कुणसु ॥९०॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! तू इन्द्रियों की सेना है उसका भंजन कर, विषयों में मत रम, मनरूप बंदर को प्रयत्न-पूर्वक बड़ा उद्यम करके भंजन कर, वशीभूत कर और बाह्यव्रत का भेष लोक को रंजन करनेवाला मत धारण करे ।

+ फिर उपदेश कहते हैं -

णवणोकसायवग्गं मिच्छत्तं चयसु भावसुद्धीए चेइयपवयणगुरुणं करेहि भंत्ते जिणाणाए ॥९१॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! तू नव जो हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद -- ये नौ कषायवर्ग तथा मिथ्यात्व इनको भाव-शुद्धि द्वारा छोड़ और जिनआज्ञा से चैत्य, प्रवचन, गुरु इनकी भक्ति कर ।

+ फिर कहते हैं -

तित्थयरभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंधियं सम्मं भावहि अणुदिणु अतुलं विसुद्धभावेण सुयणाणं ॥९२॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! तू जिस श्रुतज्ञान को तीर्थकर भगवान ने कहा और गणधर देवों ने गूँथा अर्थात् शास्त्र-रूप रचना की उसकी सम्यक् प्रकार भाव शुद्ध कर निरन्तर भावना कर । कैसा है वह श्रुतज्ञान ? अतुल है, इसके बराबर अन्य मत का कहा हुआ श्रुत-ज्ञान नहीं है ।

+ ऐसा करने से क्या होता है ? -

पीऊण णाणसलिलं णिम्महतिसडाहसोसउम्मुक्का होंति सिवालयवासी तिहुवणचूडामणी सिद्धा ॥९३॥

अन्वयार्थ : पूर्वोक्त प्रकार भाव शुद्ध करने पर ज्ञानरूप जल को पीकर सिद्ध होते हैं । कैसे हैं सिद्ध ? निर्मथ्य अर्थात् मथा न जावे ऐसे तृषादाह शोष से रहित हैं, इस प्रकार सिद्ध होते हैं; ज्ञानरूप जल पीने का यह फल है । सिद्धशिवालय अर्थात् मुक्तिरूप महल में रहनेवाले हैं, लोक के शिखरपर जिनका वास है । इसीलिये कैसे हैं ? तीन भुवन के चूडामणि है, मुकुटमणि हैं तथा तीन भुवन में ऐसा सुख नहीं है, ऐसे परमानंद अविनाशी सुख को वे भोगते हैं । इसप्रकार वे तीन भुवन के मुकुटमणि हैं ।

+ भावशुद्धि के लिए फिर उपदेश -

दस दस दो सुपरीसह सहहि मुणी सयलकाल काएण सुत्तेण अप्पमत्तो संजमघादं पमोत्तूण ॥९४॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! तू दस दस दो अर्थात् बाईस जो सुपरीषह अर्थात् अतिशयकर सहने योग्य को सूत्रेण अर्थात् जैसे जिनवचन में कहे हैं उसी रीति से निःप्रमादी होकर संयम का घात दूरकर और अपनी काय से सदाकाल निरंतर सहन कर ।

+ परीषह जय की प्रेरणा -

जह पत्थरो ण भिज्जइ परिट्ठिओ दीहकालमुदएण तह साहू वि म भिज्जइ उवसग्गपरीसहेहिंतो ॥९५॥

अन्वयार्थ : जैसे पाषाण जल में बहुत काल तक रहने पर भी भेद को प्राप्त नहीं होता है वैसे ही साधु उपसर्ग-परीषहों से नहीं भिदता है ।

भावहि अणुवेक्खाओ अवरे पणवीसभावणा भावि भावरहिएण किं पुण बाहिरलिंगेण कायव्वं ॥९६॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! तू अनुप्रेक्षा अर्थात् अनित्य आदि बारह अनुप्रेक्षा हैं उनकी भावना कर और अपर अर्थात् अन्य पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावना कही हैं उनकी भावना कर, भावरहित जो बाह्यलिंग है उससे क्या कर्तव्य है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ।

+ भाव-शुद्ध रखने के लिए ज्ञान का अभ्यास -

**सव्वविरओ वि भावहि णव य पयत्थाइं सत्त तच्चाइं
जीवसमासाइं मुणी चउदसगुणठाणणामाइं ॥९७॥**

अन्वयार्थ : हे मुने ! तू सब परिग्रहादिक से विरक्त हो गया है, महाव्रत सहित है तो भी भाव विशुद्धि के लिये नव पदार्थ, सप्त तत्त्व, चौदह जीवसमास, चौदह गुणस्थान इनके नाम लक्षण भेद इत्यादिकों की भावना कर ।

+ भाव-शुद्धि के लिए अन्य उपाय -

**णवविहबंभं पयडहि अब्बंभं दसविहं पमोत्तूण
मेहुणसण्णासत्तो भमिओ सि भवण्णवे भीमे ॥९८॥**

अन्वयार्थ : हे जीव ! तू पहिले दस प्रकार का अब्रह्म है उसको छोड़कर नव प्रकार का ब्रह्मचर्य है उसको प्रगट कर, भावों में प्रत्यक्ष कर । यह उपदेश इसलिए दिया है कि तू मैथुनसंज्ञा जो कामसेवन की अभिलाषा उसमें आसक्त होकर अशुद्ध भावों से इस भीम (भयानक) संसाररूपी समुद्र में भ्रमण करता रहा ।

+ भावसहित आराधना के चतुष्क को पाता है, भाव बिना संसार में भ्रमण -

**भावसहिदो य मुणिणो पावइ आराहणाचउक्कं च
भावरहिदो य मुणिवर भमइ चिरं दीहसंसारे ॥९९॥**

अन्वयार्थ : हे मुनिवर ! जो भाव सहित है सो दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप ऐसी आराधना के चतुष्क को पाता है, वह मुनियों में प्रधान है और जो भावरहित मुनि है सो बहुत काल तक दीर्घसंसार में भ्रमण करता है ।

+ आगे भाव ही के फल का विशेषरूप से कथन -

**पावंति भावसवणा कल्लाणपरंपराइं सोक्खाइं
दुक्खाइं दव्वसवणा णरतिरियकुदेवजोणीए ॥१००॥**

अन्वयार्थ : जो भावश्रमण हैं, भावमुनि हैं, वे जिनमें कल्याण की परंपरा है ऐसे सुखों को पाते हैं और जो द्रव्य-श्रमण हैं वे तिर्यच मनुष्य कुदेव योनि में दुःखों को पाते हैं ।

+ अशुद्ध-भाव से अशुद्ध ही आहार किया, इसलिये दुर्गति ही पाई -

**छायालदोसदूसियमसणं गसिउं असुद्धभावेण
पत्तो सि महावसणं तिरियगईए अणप्पवसो ॥१०१॥**

अन्वयार्थ : हे मुने ! तूने अशुद्ध भावसे छियालीस दोषों से दूषित अशुद्ध अशन (आहार) ग्रस्या (खाया) इस कारण से तिर्यचगति में पराधीन होकर महान (बड़े) व्यसन (कष्ट) को प्राप्त किया ।

+ सचित्त भोजन पान -- अशुद्ध-भाव -

**सच्चित्तभत्तपाणं गिद्धी दप्पेणडधी पभूत्तूण
पत्तो सि तिव्वदुक्खं अणाइकालेण तं चिंत ॥१०२॥**

अन्वयार्थ : हे जीव ! तू दुर्बुद्धि (अज्ञानी) होकर अतिचार सहित तथा अतिगर्व (उद्धतपने) से सचित्त भोजन तथा पान, जीवसहित आहार-पानी लेकर अनादिकाल से तीव्र दुःख को पाया, उसका चिन्तन कर - विचार कर ।

+ कंद-मूल-पुष्प आदि सचित्त भोजन -- अशुद्ध-भाव -

कंदं मूलं बीयं पुष्पं पत्तादि किंचि सच्चित्तं असिऊण माणगव्वं भमिओ सि अणंतसंसारे ॥१०३॥

अन्वयार्थ : कंद-जमीकंद आदिक, बीज-चना आदि अन्नादिक, मूल-अदरक मूली गाजर आदिक, पुष्प-फूल, पत्र नागरवेल आदिक, इनको आदि लेकर जो भी कोई सचित्त वस्तुथी उसे मान (गर्व) करके भक्षण की । उससे हे जीव ! तूने अनंत-संसार में भ्रमण किया ।

+ विनय का वर्णन -

विणयं पचपयारं पालहि मणवयणकायजोएण अविणयणरा सुविहियं तत्तो मुत्तिं न पावंति ॥१०४॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! जिस कारणसे अविनयी मनुष्य भले प्रकार विहित जो मुक्ति उसको नहीं पाते हैं अर्थात् अभ्युदय तीर्थकरादि सहित मुक्ति नहीं पाते हैं, इसलिये हम उपदेश करते हैं कि -- हाथ जोड़ना, चरणों में गिरना, आने पर उठना, सामने जाना और अनुकूल वचन कहना यह पाँच प्रकार का विनय है अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और इनके धारक पुरुष इनका विनय करना, ऐसे पाँच प्रकार के विनय को तू मन-वचन-काय तीनों योगों से पालन कर ।

+ वैयावृत्य का उपदेश -

णियसत्तीए महाजस भत्तीराएण णिच्चकालम्मि तं कुण जिणभत्तिपरं विज्जावच्चं दसवियप्पं ॥१०५॥

अन्वयार्थ : हे महायश ! हे मुने ! जिनभक्ति में तत्पर होकर, भक्ति के रागपूर्वक उस दस भेदरूप वैयावृत्य को सदाकाल तू अपनी शक्तिके अनुसार कर । वैयावृत्य के दूसरे दुःख (कष्ट) आने पर उसकी सेवा-चाकरी करने को कहते हैं । इसके दस भेद हैं— 1 आचार्य, 2 उपाध्याय, 3 तपस्वी, 4 शैक्ष्य, 5 ग्लान, 6 गण, 7 कुल, 8 संघ, 9 साधु, 10 मनोज्ञ -- ये दस मुनि के हैं । इनका वैयावृत्य करते हैं इसलिये दस भेद कहे हैं ।

+ गर्हा का उपदेश -

जं किंचि कयं दोसं मणवयकाएहिं असुहभावेण तं गरहि गुरुसयासे गारव मायं च मोत्तूण ॥१०६॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! जो कुछ मन-वचन-काय के द्वारा अशुभ भावों से प्रतिज्ञा में दोष लगा हो उसको गुरु के पास अपना गौरव (महंतपनेका गर्व) छोड़कर और माया (कपट) छोड़कर मन-वचन-काय को सरल करके गर्हा कर अर्थात् वचन द्वारा प्रकाशित कर ।

+ क्षमा का उपदेश -

दुज्जणवयणचडक्कं णिट्ठरकडुयं सहंति सप्पुरिसा कम्ममलणासण्डं भावेण य णिम्ममा सवणा ॥१०७॥

अन्वयार्थ : सत्पुरुष मुनि हैं वे दुर्जन के वचनरूप चपेट जो निष्ठुर (कठोर) दयारहित और कटुक (सुनते ही कानों को कड़े शूल समान लगे) ऐसी चपेट है उसको सहते हैं । वे किसलिये सहते हैं ? कर्मों का नाश होने के लिये सहते हैं । पहिले अशुभ-कर्म बाँधे थे उसके निमित्त से दुर्जन ने कटुक वचन कहे, आपने सुने, उसको उपशम परिणाम से आप सहे तब अशुभ-कर्म उदय होय खिर गये । ऐसे कटुक-वचन सहने से कर्म का नाश होता है ।

+ क्षमा का फल -

पावं खवइ असेस खमाए पडिमंडिओ य मुणपवरो खेयरअमरणराणं पसंसणीओ धुवं होइ ॥१०८॥

अन्वयार्थ : जो मुनिप्रवर (मुनियों में श्रेष्ठ, प्रधान) क्रोध से अभावरूप क्षमा से मंडित है वह मुनि समस्त पापों का क्षय करता है और विद्याधर-देव-मनुष्यों द्वारा प्रशंसा करने योग्य निश्चय से होता है ।

+ क्षमा करना और क्रोध छोड़ना -

**इय णाऊण खमागुण खमेहि तिविहेण सयल जीवाणं
चिरसंचियकोहसिहिं वरखमसलिलेण सिंचेह ॥१०९॥**

अन्वयार्थ : हे क्षमागुण मुने ! (जिसके क्षमागुण हैं ऐसे मुनि का संबोधन है) इति अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार क्षमागुण को जान और सब जीवों पर मन-वचन-काय से क्षमा कर तथा बहुत काल से संचित क्रोधरूपी अग्नि को क्षमारूप जल से सींच अर्थात् शमन कर ।

+ दीक्षाकालादिक की भावना का उपदेश -

**दिक्खाकालाईयं भावहि अवियारदंसणविसुद्धो
उत्तमबोहिणिमित्तं असारसाराणि मुणिऊण ॥११०॥**

अन्वयार्थ : हे मुने ! तू संसार को असार जानकर उत्तमबोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की प्राप्ति के निमित्त अविकार अर्थात् अतिचार-रहित निर्मल सम्यग्दर्शन सहित होकर दीक्षाकाल आदिक की भावना कर ।

+ भावलिंग शुद्ध करके द्रव्यलिंग सेवन का उपदेश -

**सेवहि चउविहलिंगं अब्भंतरलिंगसुद्धिमावण्णो
बाहिरलिंगमकज्जं होइ फुडं भावरहियाणं ॥१११॥**

अन्वयार्थ : हे मुनिवर ! तू अभ्यंतरलिंग की शुद्धि अर्थात् शुद्धता को प्राप्त होकर चार प्रकार के बाह्यलिंग का सेवन कर, क्योंकि जो भाव-रहित होते हैं उनके प्रगटपने बाह्य-लिंग अकार्य है अर्थात् कार्यकारी नहीं है ।

+ चार संज्ञा का फल संसार-भ्रमण -

**आहारभयपरिग्रहमेहुणसण्णाहि मोहिओ सि तुमं
भमिओ संसारवणे अणाइकालं अणप्पवसो ॥११२॥**

अन्वयार्थ : हे मुने ! तूने आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, इन चार संज्ञाओं से मोहित होकर अनादिकाल से पराधीन होकर संसाररूप वन में भ्रमण किया ।

+ बाह्य उत्तरगुण की प्रेरणा -

**बाहिरसयणत्तावणतरुमूलाईणि उत्तरगुणाणि
पालहि भावविशुद्धो पूयालाहं ण ईहंतो ॥११३॥**

अन्वयार्थ : हे मुनिवर ! तू भाव से विशुद्ध होकर पूजा-लाभादिक को नहीं चाहते हुए बाह्यशयन, आतापन, वृक्षमूलयोग धारण करना, इत्यादि उत्तर-गुणों का पालन कर ।

+ तत्त्व की भावना का उपदेश -

**भावहि पढमं तच्चं बिदियं तदियं चउत्थ पंचमयं
तियरणसुद्धो अप्पं अणाइणिहणं तिवग्गहरं ॥११४॥**

अन्वयार्थ : हे मुने ! तू प्रथम जो जीव-तत्त्व उसका चिन्तन कर, द्वितीय अजीव-तत्त्व का चिन्तन कर, तृतीय आस्रव-तत्त्व का चिन्तन कर, चतुर्थ बन्ध-तत्त्व का चिन्तन कर, पंचम संवर-तत्त्व का चिन्तन कर, और त्रिकरण अर्थात् मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना से शुद्ध होकर आत्म-स्वरूप का चिन्तन कर; जो आत्मा अनादिनिधन है और त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ तथा काम इनको हरनेवाला है ।

+ तत्त्व की भावना बिना मोक्ष नहीं -

जाव ण भावइ तच्चं जाव ण चिंतेइ चिंतणीयाइं ताव ण पावइ जीवो जरमरणविवज्जियं ठाणं ॥११५॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! जबतक वह जीवादि तत्त्वों को नहीं भाता है और चिन्तन करने योग्य का चिन्तन नहीं करता है तब तक जरा और मरण से रहित मोक्ष-स्थान को नहीं पाता है ।

+ पाप-पुण्य का और बन्ध-मोक्ष का कारण जीव के परिणाम -

पावं हवइ असेसं पुण्णमसेसं च हवइ परिणामा परिणामादो बंधो मुखो जिणसासणे दिट्ठो ॥११६॥

अन्वयार्थ : पाप-पुण्य, बंध-मोक्ष का कारण परिणाम ही को कहा है । जीव के मिथ्यात्व, विषय-कषाय, अशुभ-लेश्यारूप तीव्र परिणाम होते हैं, उनसे तो पापास्रव का बंध होता है । परमेष्ठी की भक्ति, जीवों पर दया इत्यादिक मंद-कषाय शुभ-लेश्यारूप परिणाम होते हैं, इससे पुण्यास्रव का बंध होता है । शुद्ध-परिणाम-रहित विभावरूप परिणाम से बंध होता है । शुद्धभाव के सन्मुख रहना, उसके अनुकूल शुभ परिणाम रखना, अशुभ परिणाम सर्वथा दूर करना, यह उपदेश है ।

+ पाप-बंध के परिणाम -

मिच्छत्त तह कसायासंजमजोगेहिं असुहलेसेहिं बंधइ असुहं कम्मं जिणवयणपरम्मुहो जीवो ॥११७॥

अन्वयार्थ : मिथ्यात्व, कषाय, असंयम और योग जिनमें अशुभ-लेश्या पाई जाती है इसप्रकार के भावों से यह जीव जिनवचन से पराङ्मुख होता है -- अशुभकर्म को बाँधता है वह पाप ही बाँधता है ।

+ इससे उलटा जीव है वह पुण्य बाँधता है -

तव्विवरीओ बंधइ सुहकम्मं भावसुद्धिमावण्णो दुविहपयारं बंधइ संखेवेणेव वज्जरियं ॥११८॥

अन्वयार्थ : उस पूर्वोक्त जिनवचन का श्रद्धानी मिथ्यात्व-रहित सम्यग्दृष्टि जीव शुभ-कर्म को बाँधता है जिसने कि -- भावों में विशुद्धि प्राप्त की है । ऐसे दोनों प्रकार के जीव शुभाशुभ कर्म को बाँधते हैं, यह संक्षेप से जिन-भगवान ने कहा है ।

+ आठों कर्मों से मुक्त होने की भावना -

णाणावरणादीहिं य अट्ठहिं कम्मेहिं वेढिओ य अहं डहिऊण इण्हिं पयडमि अणंतणाणाइगुणचित्तां ॥११९॥

अन्वयार्थ : हे मुनिवर ! तू ऐसी भावना कर कि मैं ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से वेष्टित हूँ, इसलिये इनको भस्म करके अनन्तज्ञानादि गुण जिनस्वरूप चेतना को प्रगट करूँ ।

+ कर्मों का नाश के लिये उपदेश -

शीलसहस्सट्ठारस चउरासीगुणगणाण लक्खाइं भावहि अणुदिणु णिहिलं असप्पलावेण किं बहुणा ॥१२०॥

अन्वयार्थ : शील अठारह हजार भेदरूप है और उत्तरगुण चौरासी लाख हैं । आचार्य कहते हैं कि हे मुने ! बहुत झूठे प्रलापरूप निरर्थक वचनों से क्या ? इन शीलों को और उत्तरगुणों को सबको तू निरन्तर भा, इनकी भावना-चिन्तन-अभ्यास निरन्तर रख, जैसे इनकी प्राप्ति हो वैसे ही कर ।

+ भेदों के विकल्प से रहित होकर ध्यान का उपदेश -

झायहि धम्मं सुक्कं अट्ठ रउद्धं च झाण मुत्तूण रुद्धं झाइयाइं झमेण जीवेण चिरकालं ॥१२१॥

अन्वयार्थ : हे मुनि ! तू आर्त्त-रौद्र ध्यान को छोड़ और धर्म-शुक्लध्यान हैं उन्हें ही कर, क्योंकि रौद्र और आर्त्तध्यान तो इस जीव ने अनादिकाल से बहुत समय तक किये हैं ।

+ यह ध्यान भावलिंगी मुनियों का मोक्ष करता है -

**जे के वि दव्वसवणा इंदियसुहआउला ण छिंदंति
छिंदंति भावसवणा झाणकुढारेहिं भवरुक्खं ॥१२२॥**

अन्वयार्थ : कई द्रव्य-लिंगी श्रमण हैं, वे तो इन्द्रिय-सुख में व्याकुल हैं, उनके यह धर्म-शुक्ल-ध्यान नहीं होता है । वे तो संसाररूपी वृक्ष को काटने में समर्थ नहीं हैं, और जो भाव-लिंगी श्रमण हैं, वे ध्यानरूपी कुल्हाड़े से संसाररूपी वृक्ष को काटते हैं ।

+ दृष्टांत -

**जह दीवो गम्भहरे मारुयबाहाविवज्जिओ जलइ
तह रायाणिलरहिओ झाणपईवो वि पज्जलइ ॥१२३॥**

अन्वयार्थ : जैसे दीपक गर्भगृह अर्थात् जहाँ पवन का संचार नहीं है ऐसे मध्य के घर में पवन की बाधा-रहित निश्चल होकर जलता है (प्रकाश करता है), वैसे ही अंतरंग मन में रागरूपी पवन से रहित ध्यानरूपी दीपक भी जलता है, एकाग्र होकर ठहरता है, आत्मरूप को प्रकाशित करता है ।

+ पंच परमेष्ठी का ध्यान करने का उपदेश -

**झायहि पंच वि गुरवे मंगलचउसरणलोयपरियरिए
णरसुरखेयरमहिए आराहणणायगे वीरे ॥१२४॥**

अन्वयार्थ : हे मुने ! तू पंच गुरु अर्थात् पंचपरमेष्ठी का ध्यान कर । यहाँ 'अपि' शब्द शुद्धात्म स्वरूप के ध्यान को सूचित करता है । पंच परमेष्ठी कैसे हैं ? मंगल अर्थात् पापके नाशक अथवा सुखदायक और चउसरण अर्थात् चार शरण तथा 'लोक' अर्थात् लोक के प्राणियों से अरहंत, सिद्ध, साधु, केवलीप्रणीत धर्म, ये परिकरित अर्थात् परिवारित हैं -- युक्त (सहित) हैं । नर-सुर-विद्याधर सहित हैं, पूज्य हैं, इसलिये वे 'लोकोत्तम' कहे जाते हैं, आराधना के नायक हैं, वीर हैं, कर्मों के जीतने को सुभट हैं और विशिष्ट लक्ष्मी को प्राप्त हैं तथा देते हैं । इसप्रकार पंच परम गुरु का ध्यान कर ।

+ ज्ञान के अनुभवन का उपदेश -

**णाणमयविमलसीयलसलिलं पाऊण भविय भावेण
बाहिजरमरणवेयणडाहविमुक्का सिवा होंति ॥१२५॥**

अन्वयार्थ : भव्य-जीव ज्ञानमयी निर्मल शीतल जल को सम्यक्त्वभाव सहित पीकर और व्याधि-स्वरूप जरा-मरण की वेदना (पीड़ा) को भस्म करके मुक्त अर्थात् संसार से रहित 'शिव' अर्थात् परमानंद सुखरूप होते हैं ।

+ ध्यानरूप अग्नि से आठों कर्म नष्ट होते हैं -

**यह बीयम्मि य दड्ढे ण वि रोहइ अंकुरो य महिवीढे
तह कम्मबीयदड्ढे भवंकुरो भावसवणाणं ॥१२६॥**

अन्वयार्थ : जैसे पृथ्वी-तल पर बीज के जल जाने पर उसका अंकुर फिर नहीं उगता है, वैसे ही भाव-लिंगी श्रमण के संसार का कर्मरूपी बीज दग्ध होता है इसलिये संसाररूप अंकुर फिर नहीं होता है ।

+ उपसंहार - भाव श्रमण हो -

**भावसवणो वि पावइ सुक्खाइं दुहाइं जव्वसवणो य
इय णाउं गुणदोसे भावेण य संजुदो होह ॥१२७॥**

अन्वयार्थ : भावश्रमण तो सुखों को पाता है और द्रव्यश्रमण दुःखों को पाता है, इस प्रकार गुण-दोषों को जानकर हे जीव ! तू भाव सहित संयमी बन ।

+ भाव-श्रमण का फल प्राप्त कर -

**तिथयरगणहराइं अब्भुदयपरंपराइं सोक्खाइं
पावंति भावसहिया संखेवि जिणेहिं बज्जरियं ॥१२८॥**

अन्वयार्थ : जो भावसहित मुनि हैं वे अभ्युदय-सहित तीर्थकर-गणधर आदि पदवी के सुखों को पाते हैं, यह संक्षेप में कहा है ।

+ भावश्रमण धन्य है, उनको हमारा नमस्कार -

**ते धण्णा ताण णमो दंसणवरणाणचरणसुद्धाणं
भावसहियाण णिच्चं तिविहेण पणट्टमायाणं ॥१२९॥**

अन्वयार्थ : आचार्य कहते हैं कि जो मुनि सम्यग्दर्शन श्रेष्ठ (विशिष्ट) ज्ञान और निर्दोष चारित्र इनसे शुद्ध हैं इसीलिये भाव सहित हैं और प्रणष्ट हो गई है माया अर्थात् कपट परिणाम जिनके ऐसे हैं वे धन्य हैं । उनके लिये हमारा मन-वचन-कायसे सदा नमस्कार हो ।

+ भावश्रमण देवादिक की ऋद्धि देखकर मोह को प्राप्त नहीं होते -

**इड्ढिमतुलं विउव्विय किण्णरकिंपुरिसअमरखयरेहिं
तेहिं वि ण जाइ मोहं जिणभावणभाविओ धीरो ॥१३०॥**

अन्वयार्थ : जिनभावना (सम्यक्त्व भावना) से वासित जीव किंनर, किंपुरुष देव, कल्पवासी देव और विद्याधर, इनसे विक्रियारूप विस्तार की गई अतुल-ऋद्धियों में मोह को प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव कैसा है ? धीर है, दृढबुद्धि है अर्थात् निःशंकित अंग का धारक है ।

+ भाव-श्रमण को सांसारिक सुख की कामना नहीं -

**किं पुण गच्छइ मोहं णरसुरसुक्खाण अप्पसाराणं
जाणंतो पस्संतो चिंतंतो मोक्ख मुणिधवलो ॥१३१॥**

अन्वयार्थ : सम्यग्दृष्टि जीव पूर्वोक्त प्रकार की भी ऋद्धि को नहीं चाहता है तो मुनिधवल अर्थात् मुनि-प्रधान है वह अन्य जो मनुष्य देवों के सुख-भोगादिक जिनमें अल्प सार है उनमें क्या मोह को प्राप्त हो ? कैसा है मुनिधवल ? मोक्ष को जानता है, उसही की तरफ दृष्टि है, उसहीका चिन्तन करता है ।

+ बुढ़ापा आए उससे पहले अपना हित कर लो -

**उत्थरइ जा ण जरओ रोयगी जा ण डहइ देहउडिं
इन्दियबलं ण वियलइ ताव तुमं कुणहि अप्पहियं ॥१३२॥**

अन्वयार्थ : हे मुने ! जब तक तेरे जरा (बुढ़ापा) न आवे तथा जब तक रोगरूपी अग्नि तेरी देहरूपी कुटीको भस्म न करे और जब तक इन्द्रियों का बल न घटे तब तक अपना हित कर लो ।

+ अहिंसाधर्म के उपदेश का वर्णन -

**छज्जीव छडायदणं णिच्चं मणवयणकायजोएहिं
कुरु दय परिहर मुणिवर भावि अपुव्वं महासत्तं ॥१३३॥**

अन्वयार्थ : हे मुनिवर ! तू छहकाय के जीवों पर दया कर और छह अनायतनों को मन, वचन, काय के योगों से छोड़ तथा अपूर्व जो पहिले न हुआ ऐसा महासत्त्व अर्थात् सब जीवों में व्यापक (ज्ञायक) महासत्त्व चेतना भाव को भा ।

+ अज्ञान-पूर्वक भूत-काल में त्रस-स्थावर जीवों का भक्षण -

दसविहपाणाहारो अणंतभवसायरे भमंतेण
भोयसुहकारणट्ठं कदो य तिविहेण सयलजीवाणं ॥१३४॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! तूने अनंतभवसागर में भ्रमण करते हुए, सकल त्रस, स्थावर, जीवोंके दश प्रकार के प्राणों का आहार, भोग-सुख के कारण के लिये मन, वचन, काय से किया ।

+ प्राणि-हिंसा से संसार में भ्रमण कर दुःख पाया -

पाणिवहेहि महाजस चउरासीलक्खजोणिमज्झमि
उप्पजंत मरंतो पत्तो सि गिरंतरं दुक्खं ॥१३५॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! हे महायश ! तूने प्राणियों के घातसे चौरासी लाख योनियों के मध्यमें उत्पन्न होते हुए और मरते हुए निरंतर दुःख पाया ।

+ दया का उपदेश -

जीवाणमभयदाणं देहि मुणी पाणिभूयसत्ताणं
कल्लाणसुहणिमित्तं परंपरा तिविहसुद्धीए ॥१३६॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! जीवों को और प्राणीभूत सत्त्वों को अपना परंपरा से कल्याण और सुख होने के लिये मन, वचन, काय की शुद्धता से अभयदान दे ।

+ मिथ्यात्व से संसार में भ्रमण । मिथ्यात्व के भेद -

असियसय किरियवाई अक्किरियाणं च होइ चुलसीदी
सत्तट्ठी अण्णाणी वेणईया होंति बत्तीसा ॥१३७॥

अन्वयार्थ : एकसौ अस्सी क्रियावादी हैं, चौरासी अक्रियावादियों के भेद हैं, अज्ञानी सड़सठ भेदरूप हैं और विनयवादी बत्तीस हैं ।

+ अभव्यजीव अपनी प्रकृति को नहीं छोड़ता, उसका मिथ्यात्व नहीं मिटता -

ण मुयइ पयडि अभव्वो सुट्ठु वि आयण्णिऊण जिणधम्मं
गुडदुद्धं पि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा होंति ॥१३८॥

अन्वयार्थ : अभव्य-जीव भले प्रकार जिन-धर्म को सुनकर भी अपनी प्रकृतिको नहीं छोड़ता है । यहाँ दृष्टांत है कि सर्प गुड़सहित दूध को पीते रहने पर भी विष-रहित नहीं होता है ।

+ एकान्त मिथ्यात्व के त्याग की प्रेरणा -

मिच्छत्तछण्णदिट्ठी दुद्धीए दुम्मएहिं दोसेहिं
धम्मं जिणपण्णत्तं अभव्यजीवो ण रोचेदि ॥१३९॥

अन्वयार्थ : दुर्मत जो सर्वथा एकान्त मत, उनसे प्ररूपित अन्यमत, वे ही हुए दोष उनके द्वारा अपनी दुर्बुद्धि से (मिथ्यात्वसे) आच्छादित है बुद्धि जिसकी, ऐसा अभव्य-जीव है उसे जिनप्रणीत धर्म नहीं रुचता है, वह उसकी श्रद्धा नहीं करता है, उसमें रुचि नहीं करता है ।

+ कुगुरु के त्याग की प्रेरणा -

कुच्छियधम्ममि रओ कुच्छियपासंडिभत्तिसंजुत्तो
कुच्छियतवं कुणंतो कुच्छियगइभायणो होइ ॥१४०॥

अन्वयार्थ : आचार्य कहते हैं कि जो कुत्सित (निंद्य) मिथ्या-धर्म में रत (लीन) है जो पाखंडी निंद्यभेषियों की भक्ति-संयुक्त है, जो निंद्य मिथ्यात्व-धर्म पालता है, मिथ्यादृष्टियों की भक्ति करता है और मिथ्या अज्ञानतप करता है, वह दुर्गति ही पाता है, इसलिये मिथ्यात्व छोड़ना, यह उपदेश है ।

+ अनायातन त्याग की प्रेरणा -

**इय मिच्छत्तावासे कुणयकुसत्थेहिं मोहिओ जीवो
भमिओ अणाइकालं संसारे धीर चिंतेहि ॥१४१॥**

अन्वयार्थ : इति अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार मिथ्यात्व का आवास (स्थान) यह मिथ्यादृष्टियों का संसार में कुणय -- सर्वथा एकान्त उन सहित कुशास्त्र, उनसे मोहित (बेहोश) हुआ यह जीव अनादिकाल से लगाकर संसार में भ्रमण कर रहा है, ऐसे हे धीर मुने ! तू विचार कर ।

+ सर्व मिथ्या मत को छोड़ने की प्रेरणा -

**पासंडी तिण्णि सया तिसट्ठि भेया उमग्ग मुत्तूण
रुंभहि मणु जिणमग्गे असप्पलावेण किं बहुणा ॥१४२॥**

अन्वयार्थ : हे जीव ! तीन सौ त्रेसठ पाखण्डियों के मार्ग को छोड़कर जिनमार्ग में अपने मन को रोक (लगा) यह संक्षेप है और निरर्थक प्रलापरूप कहने से क्या ?

+ सम्यग्दर्शन-रहित प्राणी चलता हुआ मृतक है -

**जीवविमुक्को सवओ दंसणमुक्को य होइ चलसवओ
सवओ लोयअपुज्जो लोउत्तरयम्मि चलसवओ ॥१४३॥**

अन्वयार्थ : लोकमें जीवरहित शरीरको 'शब' कहते हैं, 'मृतक' या मुरदा कहते हैं, वैसे ही सम्यग्दर्शनरहित पुरुष 'चलता हुआ' मृतक है । मृतक तो लोक में अपूज्य है, अग्नि से जलाया जाता है या पृथ्वी में गाड़ दिया जाता है और 'दर्शनरहित चलता हुआ मुरदा' लोकोत्तर जो मुनि-सम्यग्दृष्टि उनमें अपूज्य है, वे उसको वंदनादि नहीं करते हैं । मुनिभेष धारण करता है तो भी उसे संघ के बाहर रखते हैं अथवा परलोक में निंद्यगति पाकर अपूज्य होता है ।

+ सम्यक्त्व का महानपना -

**जह तारयाण चंदो मयराओ मयउलाण सव्वाणं
अहिओ तह सम्मत्तो रिसिसावयदुविहधम्माणं ॥१४४॥**

अन्वयार्थ : जैसे तारकाओं के समूह में चंद्रमा अधिक है और मृगकुल अर्थात् पशुओं के समूहमें मृगराज (सिंह) अधिक है, वैसे ही ऋषि (मुनि) और श्रावक इन दो प्रकार के धर्मों में सम्यक्त्व है वह अधिक है ।

+ सम्यक्त्व ही जीव को विशिष्ट बनाता है -

**जह फणिराओ *सोहइ फणमणिमाणिककिकिरणविप्फुरिओ
तह विमलदंसणधरो +जिणभत्ती पवयणे जीवो ॥१४५॥**

अन्वयार्थ : जैसे फणिराज (धरणेन्द्र) है सो फण जो सहस्र फण उनमें लगे हुए मणियों के बीच जो लाल-माणिक्य उनकी किरणों से विस्फुरित (दैदीप्यमान) शोभा पाता है, वैसे ही जिनभक्ति-सहित निर्मल सम्यग्दर्शन का धारक जीव प्रवचन अर्थात् मोक्षमार्ग के प्ररूपण में शोभा पाता है ।

+ सम्यग्दर्शन-सहित लिंग की महिमा -

**जह तारायणसहियं ससहरबिंबं खमंडले विमले
भाविय तववयविमलं जिणलिंगं दंसणविसुद्धं ॥१४६॥**

अन्वयार्थ : जैसे निर्मल आकाशमंडल में ताराओं के समूहसहित चन्द्रमा का बिंब शोभा पाता है, वैसे ही जिनशासन में दर्शन से विशुद्ध और भावित किये हुए तप तथा व्रतों में निर्मल जिनलिंग है सो शोभा पाता है ।

+ ऐसा जानकर दर्शनरत्न को धारण करो -

**इय णाउं गुणदोसं दंसणरयणं धरेह भावेण
सारं गुणरयणाणं सोवाणं पढम मोक्खस्स ॥१४७॥**

अन्वयार्थ : हे मुने ! तू 'इति' अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार सम्यक्त्व के गुण मिथ्यात्व के दोषों को जानकर सम्यक्त्वरूपी रत्न को भावपूर्वक धारण कर । वह गुणरूपी रत्नों में सार है और मोक्षरूपी मंदिर का प्रथम सोपान है अर्थात् चढ़ने के लिए पहिली सीढ़ी है ।

+ जीवपदार्थ का स्वरूप -

**कत्ता भोइ अमुत्तो सरीरमित्तो अणाइणिहणो य
दंसणणाणुवओगो णिद्धिट्ठो जिणवरिन्देहिं ॥१४८॥**

अन्वयार्थ : जीव नामक पदार्थ है, सो कैसा है -- कर्त्ता है, भोक्ता है, अमूर्तिक है, शरीरप्रमाण है, अनादिनिधन है, दर्शन-ज्ञान-उपयोगवाला है, इसप्रकार जिनवरेन्द्र सर्वज्ञदेव वीतराग ने कहा है ।

+ सम्यक्त्व सहित भावना से घातिया कर्मों का क्षय -

**दंसणणाणावरणं मोहणियं अंतराइयं कम्मं
णिट्ठवइ भवियजीवो सम्मं जिणभावणाजुत्तो ॥१४९॥**

अन्वयार्थ : सम्यक् प्रकार जिनभावना से युक्त भव्यजीव है वह ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, इन चार घातिया कर्मोंका निष्ठापन करता है अर्थात् सम्पूर्ण अभाव करता है ।

+ घातिया कर्मों के नाश से अनन्त-चतुष्टय -

**बलसोक्खणाणदंसण चत्तारि वि पायडा गुणा होंति
णट्ठे घाइचउक्के लोयालोयं पयासेदि ॥१५०॥**

अन्वयार्थ : पूर्वोक्त चार घातिया कर्मों का नाश होने पर अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख और बल (वीर्य) ये चार गुण प्रगट होते हैं । जब जीव के ये गुण की पूर्ण निर्मल दशा प्रकट होती है तब लोकालोक को प्रकाशित करता है ।

+ अनन्तचतुष्टय धारी परमात्मा के अनेक नाम -

**णाणी सिव परमेट्ठी सव्वण्हू विण्हु चउमुहो बुद्धो
अप्पो वि य परमप्पो कम्मविमुक्को य होइ फुडं ॥१५१॥**

अन्वयार्थ : परमात्मा ज्ञानी है, शिव है, परमेष्ठी है, सर्वज्ञ है, विष्णु है, चतुर्मुख ब्रह्मा है, बुद्ध है, आत्मा है, परमात्मा है और कर्मरहित है, यह स्पष्ट जानो ।

+ अरिहंत भगवान मुझे उत्तम बोधि देवे -

**इय घाइकम्ममुक्को अट्टारहदोसवज्जिओ सयलो
तिहुवणभवणपदीवो देउ ममं उत्तमं बोहिं ॥१५२॥**

अन्वयार्थ : इसप्रकार घातिया कर्मों से रहित, क्षुधा, तृषा आदि पूर्वोक्त अठारह दोषों से रहित, सकल (शरीरसहित) और तीन भुवनरूपी भवन को प्रकाशित करनेके लिए प्रकृष्ट दीपकतुल्य देव हैं, वह मुझे उत्तम बोधि (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) की प्राप्ति देवे, इस प्रकार आचार्य ने प्रार्थना की है ।

+ अरहंत जिनेश्वर को नमस्कार से संसार की जन्मरूप बेल का नाश -

**जिणवरचरणंबुरुहं णमंति जे परमभत्तिराएण
ते जम्मवेल्लिमूलं खणंति वरभावसत्थेण ॥१५३॥**

अन्वयार्थ : जो पुरुष परम भक्ति अनुराग से जिनवर के चरणकमलों को नमस्कार करते हैं वे श्रेष्ठभावरूप 'शस्त्र' से जन्म अर्थात् संसाररूपी वेल के मूल जो मिथ्यात्व आदि कर्म, उनको नष्ट कर डालते हैं (खोद डालते हैं) ।

+ जिनसम्यक्त्व को प्राप्त पुरुष आगामी कर्म से लिप्त नहीं होता -

**जह सलिलेण ण लिप्पइ कमलिणिपत्तं सहावपयडीए
तह भावेण ण लिप्पइ कसायविसएहिं सप्पुरिसो ॥१५४॥**

अन्वयार्थ : जैसे कमलिनी का पत्र अपने स्वभाव से ही जल से लिप्त नहीं होता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि सत्पुरुष है, वह अपने भाव से ही क्रोधादिक कषाय और इन्द्रियों के विषयों से लिप्त नहीं होता है ।

+ भाव सहित सम्यग्दृष्टि हैं वे ही सकल शील संयमादि गुणों से संयुक्त हैं, अन्य नहीं -

**ते च्चिय भणामि हं जे सयलकलासीलसंजमगुणेहिं
बहुदोसाणावासो सुमलिणचित्तो ण सावयसमो सो ॥१५५॥**

अन्वयार्थ : पूर्वोक्त भावसहित सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं और शील संयम गुणों से सकल कला अर्थात् संपूर्ण कलावान होते हैं, उनही को हम मुनि कहते हैं । जो सम्यग्दृष्टि नहीं है, मलिनचित्तसहित मिथ्यादृष्टि है और बहुत दोषों का आवास (स्थान) है वह तो भेष धारण करता है तो भी श्रावक के समान भी नहीं है ।

+ सम्यग्दृष्टि होकर जिनने कषायरूप सुभट जीते वे ही धीरवीर -

**ते धीरवीरपुरिसा खमदखग्गेण विप्फुरंतेण
दुज्जयपबलबलुद्धरकसायभड णिज्जिया जेहिं ॥१५६॥**

अन्वयार्थ : जिन पुरुषों ने क्षमा और इन्द्रियों का दमन वह ही हुआ विस्फुरता अर्थात् सजाया हुआ मलिनतारहित उज्ज्वल तीक्ष्ण खड्ग, उससे जिनको जीतना कठिन है ऐसे दुर्जय, प्रबल तथा बलसे उद्धत कषायरूप सुभटों को जीते, वे ही धीरवीर सुभट हैं, अन्य संग्रामादिक में जीतनेवाले तो 'कहने के सुभट' हैं ।

+ आप दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप होकर अन्य को भी उन सहित करते हैं, उनको धन्य है -

**धण्णा ते भयवंता दंसणणाणग्गपवरहत्येहिं
विसयमयरहरपडिया भविया उत्तारिया जेहिं ॥१५७॥**

अन्वयार्थ : जिन सत्पुरुषों ने विषयरूप मकरधर (समुद्र) में पड़े हुए भव्यजीवों को -- दर्शन और ज्ञानरूपी मुख्य दोनों हाथों से-पार उतार दिये, वे मुनिप्रधान भगवान् इन्द्रादिकसे पूज्य ज्ञानी धन्य हैं ।

+ ऐसे मुनियों की महिमा करते हैं -

**मायावेल्लि असेसा मोहमहातरुवरम्मि आरूढा
विसयविसपुप्फुल्लिय लुणंति मुणि णाणसत्थेहिं ॥१५८॥**

अन्वयार्थ : माया (कपट) रूपी वेल जो मोहरूपी वृक्ष पर चढ़ी हुई है तथा विषयरूपी विष के फूलों से फूल रही है उसको मुनि ज्ञानरूपी शस्त्र से समस्ततया काट डालते हैं अर्थात् निःशेष कर देते हैं ।

+ उन मुनियों के सामर्थ्य कहते हैं -

**मोहमयगारवेहिं य मुक्का ये करुणभावसंजुत्ता
ते सव्वदुरियखंभं हणंति चारित्तखग्गेण ॥१५९॥**

अन्वयार्थ : जो मुनि मोह-मद-गौरव से रहित हैं और करुणाभाव सहित हैं, वे ही चारित्ररूपी खड्ग से पापरूपी स्तंभ को हनते हैं अर्थात् मूल से काट डालते हैं ।

+ इसप्रकार मूलगुण और उत्तरगुणों से मंडित मुनि हैं वे जिनमत में शोभा पाते हैं -

**गुणगणमणिमालाए जिणमयगयणे णिसायरमुणिंदो
तारावलिपरियरिओ पुण्णिमइंदुव्व पवणपहे ॥१६०॥**

अन्वयार्थ : जैसे पवनपथ (आकाश) में ताराओं की पंक्ति के परिवार से वेष्टित पूर्णिमा का चन्द्रमा शोभा पाता है, वैसे ही जिनमतरूप आकाश में गुणों के समूहरूपी मणियों की माला से मुनीन्द्ररूप चंद्रमा शोभा पाता है ।

+ इसप्रकार विशुद्ध-भाव द्वारा तीर्थकर आदि पद के सुखों पाते हैं -

**चक्कहररामकेसवसुखरजिणगणहराइसोक्खाइं
चारणमुणिरिद्धीओ विसुद्धभावा णरा पत्ता ॥१६१॥**

अन्वयार्थ : विशुद्ध भाववाले ऐसे नर मुनि हैं वह चक्रधर (चक्रवर्ती, छह खंडका राजेन्द्र) राम (बलभद्र) केशव (नारायण, अर्द्धचक्री) सुरवर (देवों का इन्द्र) जिन (तीर्थकर पंचकल्याणक सहित, तीन-लोक से पूज्य पद) गणधर (चार ज्ञान और सप्तऋद्धि के धारक मुनि) इनके सुखों को तथा चारणमुनि (जिनके आकाशगामिनी आदि ऋद्धियाँ पाई जाती हैं) की ऋद्धियों को प्राप्त हुए ।

+ मोक्ष का सुख भी ऐसे ही पाते हैं -

**सिवमजरामरलिंगमणोवममुत्तमं परमविमलमतुलं
पत्ता वरसिद्धिसुहं जिणभावणभाविया-जीवा ॥१६२॥**

अन्वयार्थ : [जिणभावणभाविया जीवा] जिन-भावना को भाने वाला जीव [पत्ता वरसिद्धिसुहं] मोक्ष को वर कर सुख को प्राप्त करता है जो [सिवम्] 'शिव' (कल्याणरूप), [अजरामरलिंगम्] वृद्ध होना और मरना इन दोनों चिन्हों से रहित, [अणोवम] अनुपम, [उत्तमं] सर्वोत्तम, [परम] सर्वोत्कृष्ट [विमलम्] विमल, [अतुलम्] अतुलनीय है ।

+ सिद्ध-सुख को प्राप्त सिद्ध-भगवान मुझे भावों की शुद्धता देवें -

**ते मे तिहुवणमहिमा सिद्धा सुद्धा णिरंजणा णिच्चा
दितु वरभावसुद्धिं दंसण णाणे चरित्ते य ॥१६३॥**

अन्वयार्थ : सिद्ध भगवान मुझे दर्शन, ज्ञानमें और चारित्र में श्रेष्ठ उत्तमभाव की शुद्धता देवें । कैसे हैं सिद्ध भगवान् ? तीन भुवन से पूज्य हैं, शुद्ध हैं, अर्थात् द्रव्य-कर्म और नोकर्मरूप मल से रहित हैं, निरंजन हैं अर्थात् रागादि कर्म से रहित हैं, जिनके कर्म की उत्पत्ति नहीं है, नित्य हैं -- प्राप्त स्वभाव का फिर नाश नहीं है ।

+ भाव के कथन का संकोच -

**किं जंपिएण बहुणा अत्थो धम्मो यकाममोक्खो य
अण्णे वि य वावारा भावम्मि परिट्ठिया सव्वे ॥१६४॥**

अन्वयार्थ : आचार्य कहते हैं कि बहुत कहने से क्या ? धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और अन्य जो कुछ व्यापार है वह सब ही शुद्धभाव में समस्तरूप से स्थित है ।

+ भावपाहुड़ को पढ़ने-सुनने व भावना करने का उपदेश -

**इय भावपाहुडमिणं सव्वंबुद्धेहि देसियं सम्मं
जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ अविचलं ठाणं ॥१६५॥**

अन्वयार्थ : इसप्रकार इस भावपाहुड का सर्वबुद्ध-सर्वज्ञदेव ने उपदेश दिया है, इसको जो भव्यजीव सम्यक्प्रकार पढ़ते हैं, सुनते हैं और इसका चिन्तन करते हैं वे शाश्वत सुख के स्थान मोक्ष को पाते हैं ।

मोक्ष-पाहुड

+ मंगलाचरण और ग्रन्थ लिखने की प्रतिज्ञा -

**णाणमयं अप्पाणं उवलद्धं जेण झडियकम्मेण
चइऊण य परदव्वं णमो णमो तस्स देवस्स ॥१॥**

अन्वयार्थ : [जेण] जिनने [परदव्वं] परद्रव्य को [चइऊण] छोड़कर, [झडियकम्मेण] द्रव्यकर्म, भावकर्म [य] और नोकर्म खिर गये हैं ऐसे होकर, निर्मल [णाणमयं] ज्ञानमयी [अप्पाणं] आत्मा को [उवलद्धं] प्राप्त कर लिया है [तस्स] इस प्रकार के [देवस्स] देव को हमारा [णमो णमो] नमस्कार हो-नमस्कार हो ।

+ मंगलाचरण कर ग्रंथ करने की प्रतिज्ञा -

**णमिऊण य तं देवं अणंतवरणाणदंसणं सुद्धं
वोच्छं परमप्पाणं परमपयं परमजोईणं ॥२॥**

अन्वयार्थ : जिनके [अणंतवर] अनन्त और श्रेष्ठ [णाणदंसणं] ज्ञान-दर्शन पाया जाता है, [सुद्धं] विशुद्ध है / कर्म-मल से रहित है, जिनका [परमपयं] पद परम-उत्कृष्ट है, [तं य] उन [देवं] देव को [णमिऊण] नमस्कार कर, [परमप्पाणं] परमात्मा (उत्कृष्ट शुद्धात्मा) को, परम योगीश्वर जो [परमजोईणं] उत्कृष्ट-योग्य ध्यान के करनेवाले मुनिराजों के लिये [वोच्छं] कहूँगा ।

+ ध्यानी उस परमात्मा का ध्यान कर परम पद को प्राप्त करते हैं -

**जं जाणिऊण जोई जोअत्थो जोइऊण अणवरयं
अव्वाबाहमणंतं अणोवमं लहइ णिव्वाणं ॥३॥**

अन्वयार्थ : [जं] उसे (परमात्मा को) [जाणिऊण] जानकर [जोई] योगी (मुनि) [जोअत्थो] योग (ध्यान) में स्थित होकर [अणवरयं] निरन्तर उस परमात्मा को [जोइऊण] अनुभवगोचर करके [अव्वाबाहमणंतं] अव्याबाध (जहाँ किसी प्रकारकी बाधा नहीं है) अनंत (जिसका नाश नहीं है) [अणोवमं] अनुपम (जिसको किसी की उपमा नहीं लगती है) [णिव्वाणं] निर्वाण को [लहइ] प्राप्त होता है ।

+ आत्मा के तीन प्रकार -

**तिपयारो सो अप्पा परमंतरबाहिरो हु देहीणं
तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवाएण चयहि बहिरप्पा ॥४॥**

अन्वयार्थ : [देहीणं] देह में [हु] स्फुट [सो] वह [अप्पा] आत्मा [तिपयारो] तीन प्रकार का है -- [परमंतरबाहिरो] अंतरात्मा, बहिरात्मा और परमात्मा, [तत्थ] वहां [अंतोवाएण] अंतरात्मा के उपाय द्वारा [बहिरप्पा] बहिरात्मपन को [चयहि] छोड़कर [परो] परमात्मा का [झाइज्जइ] ध्यान करना चाहिये ।

+ तीन प्रकार के आत्मा का स्वरूप -

**अक्खाणि बाहिरप्पा अंतरअप्पा हु अप्पसंकप्पो
कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो ॥५॥**

अन्वयार्थ : [अक्खाणि] अक्ष (स्पर्शन आदि इन्द्रियों में लीन उपयोग) वह तो [बाहिरप्पा] बहिरात्मा है, [हु] स्पष्ट-प्रकट [अप्पसंकप्पो] आत्मा का अनुभवगोचर संकल्प [अंतरअप्पा] अंतरात्मा है तथा [कम्मकलंकविमुक्को] कर्म-मल से रहित [परमप्पा] परमात्मा है, वही [देवो] देव [भण्णए] है ।

+ परमात्मा का विशेषण द्वारा स्वरूप -

**मलरहिओ कलचत्तो अणिंदिओ केवलो विसुद्धप्पा
परमेट्ठी परमजिणो सिवंकरो सासओ सिद्धो ॥६॥**

अन्वयार्थ : [मलरहिओ] मल-रहित (द्रव्य-कर्म, भाव-कर्मरूप मल से रहित), [कलचत्तो] शरीर-रहित, [अणिंदिओ] इन्द्रिय-रहित / अनिदित, [केवलो] असहाय / केवलज्ञानमयी, [विसुद्धप्पा] विशुद्धात्मा, [परमेट्ठी] परम-पद (मोक्ष-पद) में स्थित, [परमजिणो] सब कर्मों को जीतने वाले, [सिवंकरो] भव्य-जीवों को परम मंगल तथा मोक्ष का कारण, [सासओ] अविनाशी, [सिद्धो] सिद्ध है (परमात्मा ऐसा है) ।

+ अंतरात्मपन द्वारा बहिरात्मपन को छोड़कर परमात्मा बनो -

**आरुहवि अन्तरप्पा बहिरप्पा छंडिऊण तिविहेण
झाइज्जइ परमप्पा उवइट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥७॥**

अन्वयार्थ : [अन्तरप्पा] अन्तरात्मा का [आरुहवि] आश्रय लेकर [बहिरप्पा] बहिरात्मपन को [तिविहेण] मन वचन काय से [छंडिऊण] छोड़कर [परमप्पा] परमात्मा का [झाइज्जइ] ध्यान करो, ऐसा [जिणवरिंदेहिं] जिनवरेन्द्र तीर्थंकर परमदेव ने [उवइट्ठं] उपदेश दिया है ।

+ बहिरात्मा की प्रवृत्ति -

**बहिरत्थे फुरियमणो इंदियदारेण णियसरूववचुओ
णियदेहं अप्पाणं अज्झवसदि मूढदिट्ठीओ ॥८॥**

अन्वयार्थ : [बहिरत्थे] बाह्य पदार्थ (धन, धान्य, कुटुम्ब आदि) [फुरियमणो] स्फुरित (तत्पर) मनवाला, [इंदियदारेण] इन्द्रियों के द्वार से [णियसरूववचुओ] अपने स्वरूप से च्युत, [णियदेहं] अपने देह को ही [अप्पाणं] आत्मा [अज्झवसदि] जानता है / निश्चय करता है, वह [मूढदिट्ठीओ] मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है ।

+ मिथ्यादृष्टि का लक्षण -

**णियदेहसरिच्छं पिच्छिऊण परविग्गहं पयत्तेण
अच्चेयणं पि गहिय झाइज्जइ परमभावेण ॥९॥**

अन्वयार्थ : मिथ्यादृष्टि पुरुष [णियदेहसरिच्छं] अपनी देह के समान [परविग्गहं] दूसरे की देह को [पिच्छिऊण] देख करके यह देह [अच्चेयणं] अचेतन है तो [पि] भी मिथ्याभाव से [परमभावेण] आत्मभाव द्वारा [पयत्तेण] बड़ा यत्न करके पर की आत्मा [गहिय] मानता, [झाइज्जइ] ध्याता है अर्थात् समझता है ।

+ मिथ्यादृष्टि पर में मोह करता है -

**सपरज्झवसाएणं देहेसु य अविदिदत्थमप्पाणं
सुयदाराईविसए मणुयाणं वड्ढए मोहो ॥१०॥**

अन्वयार्थ : [य] इस प्रकार [देहेसु] देह में [सपरज्झवसाएणं] स्व-पर के अध्यवसाय (मिथ्या-निश्चय) के द्वारा जिनने [अविदिदत्थमप्पाणं] पदार्थ (आत्मा) का स्वरूप नहीं जाना है ऐसे [मणुयाणं] मनुष्यों के [सुयदाराईविसए] पुत्र, स्त्री आदि विषयों में [मोहो] मोह [वड्ढए] प्रवर्तता है ।

+ मिथ्याज्ञान और मिथ्याभाव से आगामी भव में भी यह मनुष्य देह को चाहता है -

मिच्छाणाणेसु रओ मिच्छाभावेण भाविओ संतो मोहोदएण पुणरवि अंगं सं मण्णए मणुओ ॥११॥

अन्वयार्थ : [मणुओ] मनुष्य [मोहोदएण] मोहकर्म के उदय से (उदय के वश होकर) [मिच्छाणाणेसु] मिथ्याज्ञान में [रओ] लीन (मिथ्याचारित्र) [मिच्छाभावेण] मिथ्याभाव से [भाविओ संतो] भाता हुआ [पुणरवि] फिर-फिर (आगामी जन्म में) इस [अंगं सं] देह को अच्छा समझकर [मण्णए] चाहता है ।

+ देह में निर्मम निर्वाण को पाता है -

जो देहे णिरवेक्खो णिद्वंदो णिम्ममो णिरारंभो आदासहावे सुरतो जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥१२॥

अन्वयार्थ : जो [देहे] देह में [णिरवेक्खो] निरपेक्ष (उदासीन) है, [णिद्वंदो] निर्द्वंद्व (राग-द्वेषरूप इष्ट-अनिष्ट मान्यता से रहित) है, [णिम्ममो] निर्ममत्त्व (देहादिक में 'यह मेरा' ऐसी बुद्धि से रहित) है, [णिरारंभो] आरंभ (पाप-कार्यों) से रहित है और [आदासहावे] आत्म-स्वभाव में [सुरतः] भली-प्रकार से लीन है, [जोई सो] वह मुनि [लहइ णिव्वाणं] निर्वाण को प्राप्त करता है ।

+ बंध और मोक्ष के कारण का संक्षेप -

परदव्वरओ बज्झदि विरओ मुच्चेइ विविहकम्मेहिं एसो जिणउवदेसो समासदो बंधमुक्खस्स ॥१३॥

अन्वयार्थ : [परदव्वरओ] पर-द्रव्य में रत [विविहकम्मेहिं] अनेक प्रकार के कर्मों से [बज्झदि] बँधता है, और [विरओ] विरत [मुच्चेइ] छूटता है, [एसो] यह [बंधमुक्खस्स] बन्ध और मोक्ष का [समासदो] संक्षेप में [जिणउवदेसो] जिन-देव का उपदेश है ।

+ स्वद्रव्य में रत सम्यग्दृष्टि कर्मों का नाश करता है -

सद्व्वरओ सवणो सम्माइट्ठी हवेइ णियमेण सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठकम्माइं ॥१४॥

अन्वयार्थ : [सद्व्वरओ] स्व-द्रव्य (अपनी आत्मा में) लीन [सवणो] श्रमण (मुनि) [णियमेण] नियम से [सम्माइट्ठी] सम्यग्दृष्टि [हवेइ] होता है और [उण] फिर [सम्मत्तपरिणदो] सम्यक्त्वभावरूप परिणमन से [दुट्ठकम्माइं] दुष्ट आठ कर्मों का [खवेइ] क्षय / नाश करता है ।

+ परद्रव्य में रत मिथ्यादृष्टि कर्मों को बाँधता है -

जो पुण परदव्वरओ मिच्छादिट्ठी हवेइ सो साहू मिच्छत्तपरिणदो पुण बज्झदि दुट्ठकम्मेहिं ॥१५॥

अन्वयार्थ : [पुण] पुनः जो [परदव्वरओ] पर-द्रव्य में लीन है, [सो साहू] वह साधु [मिच्छादिट्ठी] मिथ्यादृष्टि [हवेइ] होता है और वह [मिच्छत्तपरिणदो] मिथ्यात्व-भावरूप परिणमन करता हुआ [दुट्ठकम्मेहिं] दुष्ट अष्ट कर्मों से [पुण] फिर से [बज्झदि] बँधता है ।

+ पर-द्रव्य से दुर्गति और स्व-द्रव्य से ही सुगति होती है -

परदव्वादो दुग्गई सद्व्वादो हु सुग्गई होइ इय णाऊण सदव्वे कुणह रई विरह इयरम्मि ॥१६॥

अन्वयार्थ : [परदव्वादो] पर-द्रव्य से [दुग्गई] दुर्गति [हु] ही [होइ] होती है और [सद्व्वादो] स्व-द्रव्य से [सुग्गई] सुगति ही होती है [इय] ऐसा [णाऊण] जानकर [सदव्वे] स्व-द्रव्य में [रई] रति / लीनता [कुणह] करो और [इयरम्मि] अन्य जो पर-द्रव्य उनसे [विरह] विरति करो ।

+ पर-द्रव्य का स्वरूप -

आदसहावादणं सच्चित्ताचित्तमिस्सियं हवदि तं परदव्वं भणियं अवितत्थं सव्वदरिसीहिं ॥१७॥

अन्वयार्थ : [आदसहावादणं] आत्म-स्वभाव से अन्य [सच्चित्ताचित्तमिस्सियं] सचित्त (स्त्री, पुत्रादिक), अचित्त (धन, धान्य, सुवर्णादिक) और मिश्र (आभूषणादि सहित मनुष्य तथा कुटुम्ब सहित गृहादिक) [हवदि] होते हैं, [तं] ये सब [परदव्वं] परद्रव्य [भणियं] जानो, ऐसा [सव्वदरिसीहिं] सर्वदर्शी सर्वज्ञ भगवान ने [अवितत्थं] सत्यार्थ कहा है।

+ स्व-द्रव्य (आत्म-स्वभाव) ऐसा होता है -

दुट्ठकम्मरहियं अणोवमं णाणविग्गहं णिच्चं सुद्धं जिणेहिं कहियं अप्पाणां हवदि सद्व्वं ॥१८॥

अन्वयार्थ : [दुट्ठकम्मरहियं] ज्ञानावरणादिक दुष्ट अष्ट-कर्मों से रहित, [अणोवमं] जिसको किसी की अपेक्षा नहीं ऐसा अनुपम, [णाणविग्गहं] जिसको ज्ञान ही शरीर है और [णिच्चं] जिसका नाश नहीं है ऐसा अविनाशी नित्य है और [सुद्धं] विकार-रहित केवलज्ञानमयी [अप्पाणां] आत्मा [जिणेहिं] जिन भगवान् सर्वज्ञ ने [कहियं] कहा है, वह ही [सद्व्वं] स्व-द्रव्य [हवदि] होता है।

+ ऐसे निज-द्रव्य के ध्यान से निर्वाण -

जे झायंति सद्व्वं परदव्वपरम्मुहा दु सुचरिता जे जिणवराण मग्गे अणुलगा लहहिं णिव्वाणं ॥१९॥

अन्वयार्थ : [जे] जो (मुनि) [परदव्वपरम्मुहा] पर-द्रव्य में पराङ्मुख होकर [सद्व्वं] स्व-द्रव्य (निज आत्म-द्रव्य) का [झायंति] ध्यान करते हैं वे [दु] प्रगट [सुचरिता] सुचरित्रा अर्थात् निर्दोष चारित्र-युक्त होते हुए [जिणवराण] जिनवर तीर्थकरों के [मग्गे] मार्ग का [अणुलगा] अनुलग्न (अनुसंधान / अनुसरण) करते हुए [णिव्वाणं] निर्वाण को [लहहिं] प्राप्त करते हैं।

+ शुद्धात्मा के ध्यान से स्वर्ग की भी प्राप्ति -

जिणवरमएण जोई झाणे झाएइ सुद्धमप्पाणं जेण लहइ णिव्वाणं ण लहइ किं तेण सुरलोयं ॥२०॥

अन्वयार्थ : जो [जोई] योगी [जिणवरमएण] जिनेन्द्र-भगवान के मत से [सुद्धमप्पाणं] शुद्ध आत्मा को [झाणे] ध्यान में [झाएइ] ध्याता है [जेण] उससे [णिव्वाणं] निर्वाण को [लहइ] प्राप्त करता है, तो [तेण] वे [किं] क्या [सुरलोयं] स्वर्ग-लोक [ण] नहीं [लहइ] प्राप्त कर सकते हैं ? ॥२०॥

+ दृष्टांत -

जो जाइ जोयणसयं दियहेणेक्केण लेवि गुरुभारं सो किं कोसद्धं पि हु ण सक्कए जाउ भुवणयले ॥२१॥

अन्वयार्थ : जो (पुरुष) [गुरुभारं] बड़ा भार [लेवि] लेकर [दियहेणेक्केण] एक दिन में [जोयणसयं] सौ योजन चला [जाइ] जावे [सो किं] तब क्या वह [भुवणयले] पृथ्वी-तल पर [कोसद्धं] आधा कोश [पि हु] भी [ण] नहीं [जाउ] चल [सक्कए] सकता ?

+ अन्य दृष्टान्त -

जो कोडिए ण जिप्पइ सुहडो संगामएहिं सव्वेहिं सो किं जिप्पइ इक्किं णरेण संगामए सुहडो ॥२२॥

अन्वयार्थ : जो कोई [सुहडो] सुभट [सव्वेहिं] सब ही [संगामएहिं] संग्राम में [कोडिए] करोड़ मनुष्यों से भी [ण] न [जिप्पइ] जीता जाय [सो] वह [सुहडो] सुभट [इक्किं णरेण] एक मनुष्य को [संगामए] संग्राम में [किं] क्या न [जिप्पइ] जीते ?

+ ध्यान के योग से स्वर्ग / मोक्ष की प्राप्ति -

**सगं तवेण सव्वो वि पावए तहिं वि ज्ञाणजोएण
जो पावइ सो पावइ परलोए सासयं सोक्खं ॥२३॥**

अन्वयार्थ : [तवेण] तप द्वारा [सगं] स्वर्ग तो [सव्वो वि] सब ही [पावए] पाते हैं [तहिं वि] तथापि जो [ज्ञाणजोएण] ध्यान के योग से [जो पावइ] जो (स्वर्ग) पाते हैं [सो] वे ही [परलोए] परलोक में [सासयं] शाश्वत [सोक्खं] सुख को भी [पावइ] प्राप्त करते हैं ।

+ दृष्टान्त / दार्ष्टान्त -

**अइसोहणजोएणं सुद्धं हेमं हवेइ जह तह य
कालाईलद्धीए अप्पा परमप्पओ हवदि ॥२४॥**

अन्वयार्थ : [जह] जैसे [अइसोहणजोएणं] शुद्ध-सामग्री के संबंध से [सुद्धं हेमं] सुवर्ण शुद्ध [हवेइ] हो जाता है [तह य] वैसे ही [कालाईलद्धीए] काल-लब्धि आदि सामग्री की प्राप्ति से यह [अप्पा] आत्मा [परमप्पओ] परमात्मा [हवदि] हो जाता है ।

+ अव्रतादिक श्रेष्ठ नहीं है -

**वर वयतवेहि सगो मा दुक्खं होउ णिरइ इयरेहिं
छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं ॥२५॥**

अन्वयार्थ : [वयतवेहि] व्रत और तप से [सगो] स्वर्ग [वर] होता है परन्तु [इयरेहिं] अव्रत और अतप से [णिरइ] नारकीय [दुक्खं] दुःख [होउ] होता है, [छायातवट्ठियाणं] छाया और आतप में बैठनेवाले के [पडिवालंताण] प्रतिपालक कारणों में [गुरुभेयं] बड़ा भेद है ।

+ संसार से निकलने के लिए आत्मा का ध्यान करे -

**जो इच्छइ णिस्सरिदुं संसारमहण्णवाउ रुद्धाओ
कम्मिंधणाण डहणं सो झायइ अप्पयं सुद्धं ॥२६॥**

अन्वयार्थ : [जो] यदि [रुद्धाओ] भीषण [संसारमहण्णवाउ] संसाररूपी समुद्र से [णिस्सरिदुं] निकलना [इच्छइ] चाहता है [सो] तो [कम्मिंधणाण] कर्मरूपी ईंधन को [डहणं] दहन करनेवाले [अप्पयं सुद्धं] शुद्ध आत्मा का [झायइ] ध्यान करे ।

+ आत्मा का ध्यान करने की विधि -

**सव्वे कसाय मोत्तुं गारवमयरायदोसवामोहं
लोयववहारविरदो अप्पा झाएह झाणत्थो ॥२७॥**

अन्वयार्थ : [सव्वे] समस्त [कसाय] कषाय [गारव] गारव, [मय] मद, [रायदोसवामोहं] राग, द्वेष तथा मोह से [मोत्तुं] मुक्त होकर और [लोयववहारविरदो] लोक-व्यवहार से विरक्त होकर [झाणत्थो] ध्यान में स्थित हुआ [अप्पा] आत्मा को [झाएह] ध्याओ ।

+ इसी को विशेषरूप से कहते हैं -

**मिच्छत्तं अण्णाणं पावं पुण्णं चएवि तिविहेण
मोणव्वएण जोई जोयत्थो जोयए अप्पा ॥२८॥**

अन्वयार्थ : [मिच्छत्तं] मिथ्यात्व, [अण्णाणं] अज्ञान, [पावं पुण्णं] पाप-पुण्य इनको [तिविहेण] मन-वचन-काय से [चएवि] छोड़कर [मोणव्वएण] मौन-व्रत के द्वारा [जोई] योगी [जोयत्थो] एकाग्र-चित्त होकर (आठ प्रकार के योग द्वारा ?) [जोयए] [अप्पा] आत्मा का ध्यान करना चाहिए ।

+ क्या विचारकर ध्यान करनेवाला मौन धारण करता है ? -

जं मया दिस्सदे रूवं तं ण जाणादि सव्वहा
जाणगं दिस्सदे णेव तम्हा जंपेमि केण हं ॥२९॥

अन्वयार्थ : [जं] जिस [रूवं] रूप को [मया] मैं [दिस्सदे] देखता हूँ [तं] वह [सव्वहा] सब प्रकार से कुछ भी [ण] नहीं [जाणादि] जानता है (रूप मूर्तिक वस्तु है, जड़ है, अचेतन है) और [जाणगं] ज्ञायक (जानने वाला) [दिस्सदे णेव] दीखता नहीं [तम्हा] इसलिये [हं] मैं [केण] किससे [जंपेमि] बोलूँ ?

+ ध्यान द्वारा संवर और निर्जरा -

सव्वासवणिरोहेण कम्मं खवदि संचिदं
जोयत्थो जाणए जोई जिणदेवेण भासियं ॥३०॥

अन्वयार्थ : [जोयत्थो] योग में स्थित होकर (आठ-प्रकार के योग द्वारा?) [सव्वासवणिरोहेण] समस्त आस्रव का निरोध करके [संचिदं] संचित [कम्मं] कर्मों का [खवदि] क्षय करता है, उसे [जोई] योगी [जाणए] जानो, [जिणदेवेण भासियं] ऐसा जिनदेव ने कहा है ।

+ जो व्यवहार में तत्पर है उसके यह ध्यान नहीं -

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ॥३१॥
इस जाणिऊण जोई ववहारं चयइ सव्वहा सव्वं
झायइ परमप्पाणं जह भणियं जिणवरिंदेहिं ॥३२॥

अन्वयार्थ : जो [ववहारे] व्यवहार में [सुत्तो] सोता है [सो जोई] वह योगी [सकज्जम्मि] स्व के कार्य में [जग्गए] जागता है और जो [ववहारे] व्यवहार में [जग्गदि] जागता है [सो] वह अपने [अप्पणो कज्जे] आत्म-कार्य में [सुत्तो] सोता है । [इस] ऐसा [जाणिऊण] जानकर [जोई] योगी (मुनि) [सव्वं] समस्त [ववहारं] व्यवहार को [सव्वहा] सब प्रकार से [चयइ] छोड़कर [जह] जैसे [जिणवरिंदेहिं] जिनवरेन्द्र ने [भणियं] कहा, वैसे [परमप्पाणं] परमात्मा का [झायइ] ध्यान करता है ।

+ जिनदेवने द्वारा ध्यान अध्ययन में प्रवृत्ति की प्रेरणा -

पंचमहव्वयजुत्तो पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु
रयणत्तयसंजुत्तो झाणज्झयणं सया कुणह ॥३३॥

अन्वयार्थ : [पंचमहव्वय] पाँच महाव्रत, [पंचसु समिदीसु] पाँच समिति, [तीसु गुत्तीसु] तीन गुप्ति [जुत्तो] युक्त, [रयणत्तयसंजुत्तो] रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) संयुक्त होकर [झाणज्झयणं] ध्यान और अध्ययन [सया] सदा [कुणह] करो ।

+ जो रत्नत्रय की आराधना करता है वह जीव आराधक ही है -

रयणत्तयमाराहं जीवो आराहओ मुणेयव्वो
आराहणाविहाणं तस्स फलं केवलं णाणं ॥३४॥

अन्वयार्थ : [रयणत्तयमाराहं] रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) की आराधना करते हुए [जीवो] जीव को [आराहओ] आराधक [मुणेयव्वो] जानो, [तस्स] जिस [आराहणाविहाणं] आराधना के विधान (निर्माण) का [फलं] फल [केवलं णाणं] केवलज्ञान है ।

+ शुद्धात्मा केवलज्ञान है और केवलज्ञान शुद्धात्मा है -

सिद्धो सुद्धो आदा सव्वण्हू सव्वलोयदरिसी य सो जिणवरेहिं भणिओ जाण तुमं केवलं णाणं ॥३५॥

अन्वयार्थ : [आदा] आत्मा [सिद्धो] सिद्ध (किसी से उत्पन्न नहीं, स्वयंसिद्ध) है, [सुद्धो] शुद्ध (कर्म-मल से रहित) है, [सव्वण्हू] सर्वज्ञ है [य] और [सव्वलोयदरिसी] सर्वदर्शी (सब लोक-अलोक को देखने वाला) है, [सो] इसप्रकार [तुमं] हे मुने ! तुम उसे [केवलं णाणं] केवलज्ञान [जाण] जान, ऐसा [जिणवरेहिं भणिओ] जेनेन्द्र देव ने कहा है ॥३५॥

+ रत्नत्रय का आराधक ही आत्मा का ध्यान करता है -

रयणत्तयं पि जोई आराहइ जो हु जिणवरमएण सो झायदि अप्पाणं परिहरइ परं ण संदेहो ॥३६॥

अन्वयार्थ : जो [पि] भी [जोई] योगी (मुनि) [जिणवरमएण] जिनेश्वर-देव के मत की आज्ञा से [रयणत्तयं] रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र) की [हु] निश्चय से [आराहइ] आराधना करता है [सो] वह [अप्पाणं] आत्मा के [झायदि] ध्यान से [परं] पर-द्रव्य को [परिहरइ] छोड़ता है इसमें [ण संदेहो] सन्देह नहीं है ।

+ आत्मा में रत्नत्रय कैसे है ? -

जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दसणं णेयं तं चारित्तं भणियं परिहारो पुण्णपावाणं ॥३७॥ तच्चरुई सम्मत्तं तच्चग्गहणं च हवइ सण्णाणं चारित्तं परिहारो परूवियं जिणवरिंदेहिं ॥३८॥

अन्वयार्थ : [जं जाणइ] जो जाने [तं णाणं] वह ज्ञान है [च] और [जं पिच्छइ] जो देखे [तं] वह [दसणं] दर्शन [णेयं] जानो और जो [पुण्णपावाणं] पुण्य तथा पाप का [परिहारो] परिहार है [तं] वह [चारित्तं] चारित्र [भणियं] जानो । [तच्चरुई] तत्त्वरुचि [सम्मत्तं] सम्यक्त्व है [च] और [तच्चग्गहणं] तत्त्व का ग्रहण [सण्णाणं] सम्यग्ज्ञान [हवइ] है, [परिहारो] परिहार [चारित्तं] चारित्र है, ऐसा [जिणवरिंदेहिं] जिनवरेन्द्र ने [परूवियं] कहा है ।

+ सम्यग्दर्शन को प्रधान कर कहते हैं -

दंसणसुद्धो सुद्धो दंसणसुद्धो, लहेइ णिव्वाणं दंसणविहीणपुरिसो ण लहइ तं इच्छियं लाहं ॥३९॥ इय उवएसं सारं जरमरणहरं खु मण्णए जं तु तं सम्मत्तं भणियं सवणाणं सावयाणं पि ॥४०॥

अन्वयार्थ : [दंसणसुद्धो] दर्शन से शुद्ध [सुद्धो] शुद्ध है, जिसका [दंसणसुद्धो] दर्शन शुद्ध है वही [णिव्वाणं] निर्वाण को [लहेइ] पाता है और [तं] जो [दंसणविहीणपुरिसो] सम्यग्दर्शन से रहित पुरुष [इच्छियं लाहं] ईप्सित लाभ (मोक्ष) को [लहइ] प्राप्त [ण] नहीं करता । [इय] इस प्रकार [उवएसं] उपदेश का [सारं] सार है, जो [खु] स्पष्ट रूप से [जरमरणहरं] जरा व मरण को हरनेवाला है, [सवणाणं] मुनियों को [पि] तथा [सावयाणं] श्रावकों द्वारा ऐसा [मण्णए] मानना ही [सम्मत्तं] सम्यक्त्व [भणियं] कहा है ।

+ सम्यग्ज्ञान का स्वरूप -

जीवाजीवविहत्ती जोई जाणेइ जिणवरमएण तं सण्णाणं भणियं अवियत्थं सव्वदरसीहिं ॥४१॥

अन्वयार्थ : [जिणवरमएण] जिनवर के मत द्वारा जो [जोई] योगी मुनि [जीवाजीवविहत्ती] जीव-अजीव के भेद [जाणेइ] जानना, [तं] वह [सण्णाणं] सम्यग्ज्ञान [भणियं] है ऐसा [सव्वदरसीहिं] सर्वदर्शी (सर्वज्ञदेव) ने [अवियत्थं] कहा है ।

+ सम्यक्चारित्र का स्वरूप -

जं जाणिऊण जोई परिहारं कुणइ पुण्णपावाणं तं चारित्तं भणियं अवियप्पं कम्मरहिएहिं ॥४२॥

अन्वयार्थ : [जं जाणिऊण] उस पूर्वोक्त (जीवाजीव के भेदरूप सत्यार्थ सम्यग्ज्ञान) को जानकर [जोई] योगी (मुनि) का [पुण्णपावाणं] पुण्य तथा पाप का [परिहारं] परिहार [कुणइ] करना, [तं] वह [चारित्तं] चारित्र [भणियं] होता है, ऐसा [कम्मरहिएहिं] कर्म से रहित (सर्वज्ञदेव) ने [अवियप्पं] कहा है ।

+ रत्नत्रय-सहित तप-संयम-समिति का पालन द्वारा शुद्धात्मा का ध्यान से निर्वाण की प्राप्ति -

जो रयणत्तयजुत्तो कुणइ तवं संजदो ससत्तीए सो पावइ परमपयं झायंतो अप्पयं सुद्धं ॥४३॥

अन्वयार्थ : जो [रयणत्तयजुत्तो] रत्नत्रय संयुक्त होता हुआ [संजदो] संयमी बनकर अपनी [ससत्तीए] शक्ति के अनुसार [तवं] तप [कुणइ] करता है [सो] वह [अप्पयं सुद्धं] शुद्ध आत्मा का [झायंतो] ध्यान करता हुआ [परमपयं] परमपद निर्वाण को [पावइ] प्राप्त करता है ।

+ ध्यानी मुनि ऐसा बनकर परमात्मा का ध्यान करता है -

तिहि तिण्णि धरवि णिच्चं तियरहिओ तह तिएण परियरिओ दोदोसविप्पमुक्को परमप्पा झायए जोई ॥४४॥

अन्वयार्थ : [तिहि] मन-वचन-काय से, [तिण्णि] वर्षा-शीत-उष्ण तीन कालयोगों को [णिच्चं धरवि] नित्य धारणकर, [तियरहिओ] माया, मिथ्या, निदान तीन शक्तियों से रहित होकर [तह] तथा [तिएण परियरिओ] दर्शन, ज्ञान, चारित्र से मंडित होकर और [दोदोसविप्पमुक्को] दो दोष (राग-द्वेष) से रहित होता हुआ [जोई] योगी (मुनि) [परमप्पा झायए] शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है ।

[मय] मद, [माय] माया, [कोहरहिओ] क्रोध से रहित, [लोहेण] लोभ से [विवज्जिओ] विशेषरूप से रहित [य जो जीवो] ऐसा जो जीव [सो] वह अपने [णिम्मलसहावजुत्तो] निर्मल विशुद्ध स्वभाव युक्त हो [पावइ उत्तमं सोक्खं] उत्तम सुख को प्राप्त करता है ।

+ विषय-कषायों में आसक्त परमात्मा की भावना से रहित है, उसे मोक्ष नहीं -

विसयकसाएहि जुदो रुद्धो परमप्पभावरहियमणो सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणमुद्दपरम्मुहो जीवो ॥४५॥

अन्वयार्थ : [विसयकसाएहि जुदो] विषय-कषायों से युक्त, [रुद्धो] रूद्र के सामान [परमप्पभावरहियमणो] परमात्मा की भावना से रहित है, [जिणमुद्दपरम्मुहो जीवो] ऐसा जीव जिनमुद्रा से परान्मुख है [सो ण लहइ सिद्धिसुहं] वह ऐसे सिद्धिसुख (मोक्ष-सुख) को प्राप्त नहीं करता ।

+ जिनमुद्रा जिन जीवों को नहीं रुचती वे दीर्घ-संसारि -

जिणमुद्दं सिद्धिसुहं हवेइ णियमेण जिणवरुद्धिट्ठं सिविणे वि ण रुच्चइ पुण जीवा अच्छंति भवगहणे ॥४६॥

अन्वयार्थ : [जिणवरुद्धिट्ठं] जिन भगवानके द्वारा कही गई [जिणमुद्दं] जिनमुद्रा से [णियमेण] नियम से [सिद्धिसुहं] सिद्धिसुख (मुक्तिसुख) [हवेइ] होता है । ऐसी जिनमुद्रा जिस जीव को, [सिविणे] स्वप्न में [वि] भी [ण रुच्चइ] नहीं रुचती है (अवज्ञा करता है), [पुण जीवा] तो वह जीव [भवगहणे] संसाररूप गहन वन में [अच्छंति] रहता है ।

+ परमात्मा के ध्यान से लोभ-रहित होकर निरास्रव -

परमप्पय झायंतो जोई मुच्चेइ मलदलोहेण णादियदि णवं कम्मं णिद्धिट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥४७॥

अन्वयार्थ : जो [जोई] योगी ध्यानी [परमप्पय] परमात्मा का [झायंतो] ध्यान द्वारा [मलदलोहेण] मल देनेवाले लोभकषाय के [मुच्चेइ] छूटने से [णवं कम्मं] नवीन कर्म [णादियदि] को नहीं स्वीकारता ऐसा [जिणवरिंदेहिं] जिनवरेन्द्र तीर्थकर

सर्वज्ञदेव ने [णिदिट्ठं] कहा है।

+ ऐसा निर्लोभी दृढ़ रत्नत्रय सहित परमात्मा के ध्यान द्वारा परम-पद को पाता है -

**होऊण दिढचरित्तो दिढसम्मत्तेण भावियमईओ
झायंतो अप्पाणं परमपयं पावए जोई ॥४९॥**

अन्वयार्थ : [दिढचरित्तो] दृढ़चारित्रवान [होऊण] होकर, [दिढसम्मत्तेण] दृढ़ सम्यक्त्व से [भावियमईओ] जिसकी मति भावित है, (ऐसा योगी / मुनि) [अप्पाणं] आत्मा का [झायंतो] ध्यान द्वारा [परमपयं] परमपद (मोक्ष) [पावए जोई] प्राप्त करता है।

+ चारित्र क्या है ? -

**चरणं हवइ सधम्मो धम्मो सो हवइ अप्समभावो
सो रागरोसरहिओ जीवस्स अणणपरिणामो ॥५०॥**

अन्वयार्थ : [चरणं] चारित्र [हवइ सधम्मो] स्वधर्म (आत्मा का धर्म) है, [धम्मो] धर्म [सो] वह [अप्समभावो] आत्मा का समभाव [हवइ] है, [सो] वह (समभाव) [रागरोसरहिओ] रागद्वेष रहित [जीवस्स] जीव का [अणणपरिणामो] अनन्य परिणाम है।

+ जीव के परिणाम की स्वच्छता को दृष्टांत पूर्वक दिखाते हैं -

**जह फलिहमणि विसुद्धो परदव्वजुदो हवेइ अण्णं सो
तह रागादिविजुत्तो जीवो हवदि हु अणणविहो ॥५१॥**

अन्वयार्थ : [जह] जैसे [फलिहमणि] स्फटिक-मणि [विसुद्धो] विशुद्ध (निर्मल) है, [सो] वह [परदव्वजुदो] पर-द्रव्य (पीत, रक्त, हरित पुष्पादिक) से युक्त होने पर [अण्णं] अन्य सा [हवेइ] होता है, [तह] वैसे ही [हु] स्पष्ट रूप से [जीवो] जीव [रागादिविजुत्तो] रागादिक भावों से युक्त होने पर [अणणविहो] अन्य-अन्य प्रकार [हवदि] होता है।

+ वह बाह्य में कैसा होता है? -

**देवगुरुम्मि य भत्तो साहम्मियसंजदेसु अणुरत्तो
सम्मत्तमुव्वहंतो झाणरओ होदि जोई सो ॥५२॥**

अन्वयार्थ : जो योगी ध्यानी मुनि सम्यक्त्व को धारण करता है किन्तु जब तक यथाख्यात चारित्र को प्राप्त नहीं होता है तबतक [देवगुरुम्मि य भत्तो] देव (अरहंत-सिद्ध), और गुरु (शिक्षा-दीक्षा देनेवाले) में तो भक्ति, [साहम्मियसंजदेसु] साधर्मि तथा संयमी (मुनि) में [अणुरत्तो] अनुराग-सहित [सम्मत्तमुव्वहंतो] सम्यक्त्व पूर्वक [झाणरओ] ध्यान में रत (प्रीतिवान) [सो] ऐसा [जोई] योगी (मुनि) [होदि] होता है।

+ तीन गुप्ति की महिमा -

**उग्गतवेणण्णाणी जं कम्मं खवदि भवहि बहुएहिं
तं णाणी तिहि गुत्तो खवेइ अंतोमुहुत्तेण ॥५३॥**

अन्वयार्थ : [भवहि बहुएहिं] बहुत भवों में [उग्गतवेणण्णाणी] उग्र (तीव्र) तप के द्वारा अज्ञानी [जं कम्मं खवदि] जितने कर्मों का क्षय करता है [तं णाणी] उतने ज्ञानी (मुनि) कर्मों का [तिहि गुत्तो] तीन गुप्ति द्वारा [अंतोमुहुत्तेण] अंतर्मुहूर्त में ही [खवेइ] क्षय कर देता है।

+ परद्रव्य में राग-द्वेष करे वह अज्ञानी, ज्ञानी इससे उल्टा है -

**सुहजोएण सुभावं परदव्वे कुणइ रागदो साहू
सो तेण दु अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीओ ॥५४॥**

अन्वयार्थ : [सुहजोएण] शुभ योग अर्थात् [परदब्बे] पर-द्रव्य में [सुभावं] सुभाव (प्रीतिभाव) को [कुणइ] करता है [रागदो] राग-द्वेष है, [सो] वह [साहू] साधु [तेण दु] उस कारण से [अण्णाणी] अज्ञानी है और [णाणी] ज्ञानी [एत्तो] इससे [विवरीओ] विपरीत [दु] है ।

+ ज्ञानी मोक्ष के निमित्त भी राग नहीं करता -

आसवहेदू य तहा भावं मोक्खस्स कारणं हवदि
सो तेण दु अण्णाणी आदसहावा दु विवरीदु ॥५५॥

अन्वयार्थ : [य तहा] और वही [आसवहेदू] आसव का कारण [भावं] रागभाव यदि [मोक्खस्स] मोक्ष के [कारणं] लिए भी [हवदि] हो तो [सो तेण दु अण्णाणी] तो वह (जीव / मुनि) भी अज्ञानी है, [आदसहावा] आत्म-स्वभाव से [दु विवरीदु] विपरीत है ।

+ कर्ममात्र से ही सिद्धि मानना अज्ञान -

जो कम्मजादमइओ सहावणाणस्स खंडदूसयरो
सो तेण दु अण्णाणी जिणसासणदूसगो भणिदो ॥५६॥

अन्वयार्थ : [जो] जिसकी [कम्मजादमइओ] बुद्धि कर्म ही में उत्पन्न होती है ऐसा पुरुष [सहावणाणस्स] स्वभाव-ज्ञान (केवलज्ञान) उसको [खंडदूसयरो] खंडरूप दूषण करनेवाला है, [सो तेण दु अण्णाणी] तो वह स्पष्ट-रूप से अज्ञानी है, [जिणसासणदूसगो भणिदो] जिनमत को दूषित करता है ।

+ चारित्र रहित ज्ञान और सम्यक्त्व रहित तप अर्थ-क्रियाकारी नहीं -

णाणं चरित्तहीणं दंसणहीणं तवेहिं संजुत्तं
अण्णेसु भावरहियं लिंगगहणेण किं सोक्खं ॥५७॥

अन्वयार्थ : [चरित्तहीणं] चारित्र रहित [णाणं] ज्ञान, [दंसणहीणं] दर्शन (सम्यक्त्व) रहित [तवेहिं संजुत्तं] तपयुक्त, [अण्णेसु] अन्य भी [भावरहियं] भाव-रहित [लिंगगहणेण] लिंग / भेष ग्रहण करने में [किं सोक्खं] क्या सुख है ?

+ सांख्यमती आदि के आशय का निषेध -

अच्चेयणं पि चेदा जो मण्णइ सो हवेइ अण्णाणी
सो पुण णाणी भणिओ जो मण्णइ चेयणे चेदा ॥५८॥

अन्वयार्थ : [अच्चेयणं] अचेतन में [पि] भी [चेदा जो मण्णइ] चेतन को जो मानता है [सो हवेइ अण्णाणी] वह अज्ञानी है [सो पुण] और फिर जो [चेयणे] चेतन में ही [चेदा] चेतन को [मण्णइ] मानता है उसे [णाणी भणिओ] ज्ञानी कहा है ।

+ तप रहित ज्ञान और ज्ञान रहित तप अकार्य हैं, दोनों के संयुक्त होने पर ही निर्वाण है -

तवरहियं जं णाणं णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो
तम्हा णाणतवेणं संजुत्तो लहइ णिव्वाणं ॥५९॥
धुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तवयरणं
णाऊण धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि ॥६०॥

अन्वयार्थ : [तवरहियं] तपरहित [जं] जो [णाणं] ज्ञान और [णाणविजुत्तो] ज्ञानरहित [तवो वि] तप भी (दोनों ही) [अकयत्थो] अकार्य हैं, [तम्हा] इसलिये [णाणतवेणं] ज्ञान-तप की संयुक्तता से ही [संजुत्तो लहइ णिव्वाणं] निर्वाण को प्राप्त होता है ।

+ बाह्यलिंग-सहित और अभ्यंतरलिंग-रहित मोक्षमार्ग नहीं -

बाहिरलिंगेण जुदो अम्भंतरलिंगरहियपरियम्मो सो सगचरित्तभट्टो मोक्खपहविणासगो साहू ॥६१॥

अन्वयार्थ : [बाहिरलिंगेण जुदो] बाह्य लिंग / भेष सहित है और [अम्भंतरलिंगरहिय] अम्भंतर लिंग से रहित [परियम्मो] परिकर्म (नग्नता, ब्रह्मचर्यादि शरीर-संस्कार) होने पर भी [सो] वह [सगचरित्तभट्टो] स्व-चारित्र से भ्रष्ट होने से [मोक्खपहविणासगो साहू] मोक्षमार्ग का विनाश करनेवाला साधु है ॥६१॥

+ तपश्चरण सहित ज्ञान को भाना -

सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहि भावए ॥६२॥

अन्वयार्थ : [सुहेण] सुख से [भाविदं] भाया हुआ [णाणं] ज्ञान, [दुहे] दुःख (उपसर्ग-परिषहादि) के द्वारा [विणस्सदि] नष्ट हो [जादे] जाता है, [तम्हा] इसलिये [जहाबलं] यथा-शक्ति [जोई] योगी (मुनि) [दुक्खेहि] तपश्चरणादि के कष्ट (दुःख) सहित [अप्पा] आत्मा को [भावए] भावे ।

+ आहार, आसन, निद्रा को जीतकर आत्मा का ध्यान करना -

आहारासणणिद्वाजयं च काऊण जिणवरमएण झायव्वो णियअप्पा णाऊणं गुरुपसाएण ॥६३॥

अन्वयार्थ : [आहारासणणिद्वाजयं च] आहार, आसन, निद्रा को जीतकर और [जिणवरमएण] जिनवर का मत [गुरुपसाएण] गुरु के प्रसाद से [णाऊणं] जानकर [णियअप्पा] निज आत्मा का [झायव्वो] ध्यान [काऊण] करना ।

+ ध्येय का स्वरूप -

अप्पा चरित्तवंतो दंसणणाणेण संजुदो अप्पा सो झायव्वो णिच्चं णाऊणं गुरुपसाएण ॥६४॥

अन्वयार्थ : [अप्पा] आत्मा [चरित्तवंतो] चारित्रवान् है और [अप्पा] आत्मा [दंसणणाणेण संजुदो] दर्शन-ज्ञानसहित है, [सो] [गुरुपसाएण] गुरु के प्रसाद से [णाऊणं] जानकर [णिच्चं] नित्य [झायव्वो] ध्यान करना ।

+ आत्मा का जानना, भाना और विषयों से विरक्त होना ये उत्तरोत्तर दुर्लभ -

दुक्खे णज्जइ अप्पा अप्पा णाऊण भावणा दुक्खं भावियसहावपुरिसो विसयेसु विरज्जए दुक्खं ॥६५॥

अन्वयार्थ : [अप्पा] आत्मा का [णज्जइ] जानना [दुक्खे] दुःख से (दुर्लभ) होता है, फिर [अप्पा] आत्मा को [णाऊण] जानकर भी (आत्म-स्वभाव की) [भावणा] भावना (फिर-फिर चिन्तन / अनुभव) [दुक्खं] दुःख से (उग्र पुरुषार्थ से) होती है, [सहावपुरिसो] आत्म-स्वभाव की [भाविय] भावना होने पर भी [विसयेसु] विषयों से [विरज्जए] विरक्त बड़े [दुक्खं] दुःख से (अपूर्व पुरुषार्थ से) होता है ।

+ जब तक विषयों में प्रवर्तता है तब तक आत्म-ज्ञान नहीं होता -

ताम ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए जाम विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं ॥६६॥

अन्वयार्थ : [ताम] तब तक [अप्पा] आत्मा को [ण णज्जइ] नहीं जानता [जाम] जब तक [णरो] मनुष्य (इन्द्रिय) [विसएसु] विषयों में [पवट्टए] प्रवर्तता है, इसलिये [जोई] योगी (मुनि) [विसए] विषयों से [विरत्तचित्तो] विरक्त-चित्त होता हुआ [अप्पाणं] आत्मा को [जाणेइ] जानता है ।

+ आत्मा को जानकर भी भावना बिना संसार में ही रहना है -

अप्पा जाऊण णरा केई सञ्भावभावपब्भट्ठा हिंडंति चाउरंगं विसएसु विमोहिया मूढा ॥६७॥

अन्वयार्थ : [णरा केई] कई मनुष्य [अप्पा जाऊण] आत्मा को जानकर भी [सञ्भावभावपब्भट्ठा] अपने स्वभाव की भावना से अत्यंत भ्रष्ट हुए [विसएसु] विषयों से [विमोहिया] मोहित होकर [मूढा] अज्ञानी / मूर्ख [चाउरंगं] चार गतिरूप संसार में [हिंडंति] भ्रमण करते हैं ।

+ जो विषयों से विरक्त होकर आत्मा को जानकर भाते हैं वे संसार को छोड़ते हैं -

जे पुण विसयविरत्ता अप्पा णाऊण भावणासहिया छंडंति चाउरंगं तवगुणजुत्ता ण संदेहो ॥६८॥

अन्वयार्थ : [जे पुण] फिर जो [विसयविरत्ता] विषयों से विरक्त हो [अप्पा णाऊण] आत्मा को जानकर, [भावणासहिया] बारंबार भावना द्वारा (अनुभव करते हैं), [तवगुणजुत्ता] तप और मूलगुण-उत्तरगुणों से युक्त होकर [चाउरंगं] संसार को [छंडंति] छोड़ते हैं, [ण संदेहो] इसमें कोई संदेह नहीं है ।

+ पर-द्रव्य में लेशमात्र भी राग हो तो वह अज्ञानी -

परमाणुपमाणं वा परदव्वे रदि हवेदि मोहादो सो मूढो अण्णाणी आदसहावस्स विवरीओ ॥६९॥

अन्वयार्थ : [परमाणुपमाणं वा] परमाणु प्रमाण (लेशमात्र) भी [परदव्वे] पर-द्रव्य में [मोहादो] मोह द्वारा [रदि] रति (राग / प्रीति) [हवेदि] हो तो [सो मूढो अण्णाणी] वह पुरुष मूढ है, अज्ञानी है, [आदसहावस्स] आत्म-स्वभाव से [विवरीओ] विपरीत है ।

+ इस अर्थ को संक्षेप से कहते हैं -

अप्पा झायंताणं दंसणसुद्धीण दिढचरित्ताणं होदि ध्रुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्ताणं ॥७०॥

अन्वयार्थ : [विसएसु विरत्तचित्ताणं] विषयों से विरक्त होकर [दंसणसुद्धीण] दर्शन की शुद्धता और [दिढचरित्ताणं] दृढ़ चारित्र पूर्वक [अप्पा झायंताणं] आत्मा का ध्यान करने से [होदि ध्रुवं णिव्वाणं] निश्चित ही निर्वाण होता है ।

+ राग संसार का कारण होने से योगीश्वर आत्मा में भावना करते हैं -

जेण रागो परे दव्वे संसारस्स हि कारणं तेणावि जोइणो णिच्चं कुज्जा अप्पे सभावणं ॥७१॥

अन्वयार्थ : [जेण] क्योंकि [परे दव्वे] पर-द्रव्य में [रागो] राग है वह [संसारस्स हि कारणं] संसार ही का कारण है, [तेणावि] इसलिए [जोइणो] योगीश्वर मुनि [णिच्चं] नित्य [अप्पे सभावणं] आत्म की भावना [कुज्जा] करते हैं ।

+ रागद्वेष से रहित ही चारित्र होता है -

णिंदाए य पसंसाए दुक्खे य सुहएसु य सत्तूणं चेव बंधूणं चारित्तं समभावदो ॥७२॥

अन्वयार्थ : [णिंदाए य पसंसाए] निन्दा और प्रशंसा में, [दुक्खे य सुहएसु य] दुःख और सुख में और [सत्तूणं चेव बंधूणं] शत्रु और मित्र में [समभावदो] समभाव (समतापरिणाम), [चारित्तं] चारित्र होता है ।

+ पंचमकाल आत्मध्यान का काल नहीं है, उसका निषेध -

चरियावरिया वदसमिदिवज्जिया सुद्धभावपब्भट्ठा केई जंपंति णरा ण हु कालो झाणजोयस्स ॥७३॥

सम्मत्तणाणरहिओ अभव्वजीवो हु मोक्खपरिमुक्को संसारसुहे सुरदो ण हु कालो भणइ झाणस्स ॥७४॥

अन्वयार्थ : [चरियावरिया] चर्या (आचारक्रिया) आवृत / अप्रकट, [वदसमिदिवज्जिया] व्रत-समिति से रहित और [सुद्धभावपब्भट्ठा] शुद्धभाव से अत्यंत भ्रष्ट [केई जंपंति णरा] कई मनुष्य ऐसा कहते हैं कि (पंचमकाल) [झाणजोयस्स] ध्यान-योग [ण हु कालो] का काल ही नहीं है ।
[सम्मत्तणाणरहिओ] सम्यक्त्व और ज्ञान से रहित, [अभव्वजीवो] अभव्य-जीव, [हु मोक्खपरिमुक्को] स्पष्ट रूप से मोक्ष से विपरीत, [संसारसुहे] संसार-सुख में [सुरदो] अच्छी तरह रत (आसक्त) कहते हैं कि [ण हु कालो भणइ झाणस्स] अभी ध्यान का काल नहीं है ।

+ जो ऐसा कहता है कि पंचम-काल ध्यान का काल नहीं, उसको कहते हैं -

पंचसु महव्वदेसु य पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु जो मूढो अण्णाणी ण हु कालो भणइ झाणस्स ॥७५॥

अन्वयार्थ : जो [पंचसु महव्वदेसु] पांच महाव्रत, [पंचसु समिदीसु] पांच समिति और [तीसु गुत्तीसु] तीन गुप्ति इनमें [मूढो अण्णाणी] मूढ है, अज्ञानी है (इनका स्वरूप नहीं जानता) वह इसप्रकार [ण हु कालो भणइ झाणस्स] कहता है कि अभी ध्यान का काल नहीं है ॥७५॥

+ अभी इस पंचमकाल में धर्मध्यान होता है, यह नहीं मानता है वह अज्ञानी है -

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी ॥७६॥

अन्वयार्थ : [भरहे] भरत-क्षेत्र में [दुस्समकाले] दुःषमकाल (पंचमकाल) में, [तं अप्पसहावठिदे] आत्म-स्वभाव में स्थित [साहुस्स] साधु (मुनि) के [धम्मज्झाणं] धर्म-ध्यान [हवेइ] होता है, [ण हु मण्णइ] जो यह नहीं मानता है [सो वि अण्णाणी] वह अज्ञानी है ।

+ इस काल में भी रत्नत्रय का धारक मुनि स्वर्ग प्राप्त करके वहाँ से चयकर मोक्ष जाता है -

अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहहिं इंदत्तं लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति ॥७७॥

अन्वयार्थ : [अज्ज वि] आज (पंचमकाल में) भी जो मुनि [तिरयणसुद्धा] सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शुद्धता पूर्वक [अप्पा झाएवि] आत्मा का ध्यान कर [लहहिं इंदत्तं लोयंतियदेवत्तं] इन्द्रपद अथवा लोकान्तिक देवपद को प्राप्त करते हैं और [तत्थ चुआ] वहाँ से चयकर [णिव्वुदिं जंति] निर्वाण को प्राप्त होते हैं ।

+ ध्यान का अभाव मानकर मुनिलिंग ग्रहण कर पाप में प्रवृत्ति करने का निषेध -

जे पावमोहियमई लिंग घेत्तूण जिणवरिंदाणं पावं कुणंति पावा ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ॥७८॥

अन्वयार्थ : [जे] जिनकी [पावमोहियमई] पाप से मोहित बुद्धि है वे [जिणवरिंदाणं] जिनवरेन्द्र का [लिंग घेत्तूण] लिंग ग्रहण करके भी [पावं कुणंति] पाप करते हैं, [पावा ते] वे पापी [मोक्खमग्गम्मि] मोक्षमार्ग से [चत्ता] च्युत हैं ।

+ मोक्षमार्ग से च्युत वे कैसे हैं -

जे पंचचेलसत्ता गंथग्गाही य जायणासीला आधाकम्मम्मि रया ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ॥७९॥

अन्वयार्थ : [जे] जो [पंचचेलसत्ता] पांच प्रकार के वस्त्रों (अंडज, कर्पासज, वल्कल, चर्मज और रोमज) में आसक्त, [गंथग्गाही] परिग्रह धारी [य] और [जायणासीला] मांगने का ही जिनका स्वभाव है [आधाकम्मम्मि रया] पाप-कर्म में रत हैं, [ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि] वे मोक्षमार्ग से च्युत हैं ।

+ मोक्षमार्गी कैसे होते हैं ? -

**णिग्गंथमोहमुक्का बावीसपरीसहा जियकसाया
पावारंभविमुक्का ते गहिया मोक्खमग्गमि ॥८०॥**

अन्वयार्थ : [णिग्गंथ] निर्ग्रन्थ (परिग्रह-रहित), [मोहमुक्का] मोह-रहित, [बावीसपरीसहा] बाईस परीषहों को सहने वाले, [जियकसाया] कषायों को जिनने जीत लिया और [पावारंभविमुक्का] आरंभादिक पापों में नहीं प्रवर्तते [ते] उन्हें [मोक्खमग्गमि] मोक्षमार्ग में [गहिया] ग्रहण किया है।

+ मोक्षमार्गी की प्रवृत्ति -

**उद्धद्धमज्झलोये केई मज्झं ण अहयमेगागी
इय भावणाए जोई पावंति हु सासयं सोक्खं ॥८१॥**

अन्वयार्थ : [उद्धद्धमज्झलोये] ऊर्ध्व-मध्य-अधोलोक (तीनों-लोकों) में [केई मज्झं ण] कोई मेरा नहीं है, [अहयमेगागी] मैं एकाकी हूँ, [इय भावणाए] ऐसी भावना से [जोई] योगी (मुनि) [हु] प्रकटरूप से [सासयं सोक्खं] शाश्वत सुख को [पावंति] प्राप्त करता है।

+ फिर कहते हैं -

**देवगुरूणं भत्ता णिव्वेयपरंपरा विचिंतिता
झाणरया सुचरित्ता ते गहिया मोक्खमग्गमि ॥८२॥**

अन्वयार्थ : जो [देवगुरूणं] देव-गुरु के [भत्ता] भक्त, [णिव्वेय] निर्वेद (संसार-देह-भोगों से विरागता) की [परंपरा विचिंतिता] परंपरा का चिन्तन करते हैं, [झाणरया] ध्यान में रत [सुचरित्ता] जिनके उत्तम चरित्र है [ते] उन्हें [मोक्खमग्गमि] मोक्षमार्ग में [गहिया] ग्रहण किया है।

+ निश्चयनय से ध्यान इस प्रकार करना -

**णिच्छयणयस्स एवं अप्पा अप्पमि अप्पणे सुरदो
सो होदि हु सुचरित्तो जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥८३॥**

अन्वयार्थ : [णिच्छयणयस्स एवं] निश्चयनय के मत से [अप्पा] आत्मा [अप्पमि] आत्मा ही में [अप्पणे] अपने ही लिये [सुरदो] भले प्रकार रत (लीन) हो जावे [सो] वह [हु] स्पष्ट रूप से [सुचरित्तो] सम्यक्चारित्रवान् [जोई] योगी (मुनि) [होदि] होता हुआ [सो लहइ णिव्वाणं] वह निर्वाण को पाता है।

+ इस ही अर्थ को दृढ़ करते हुए कहते हैं -

**पुरिसायारो अप्पा जोई वरणाणदंसणसमग्गो
जो झायदि सो जोई पावहरो हवदि णिद्वंदो ॥८४॥**

अन्वयार्थ : [पुरिसायारो] पुरुषाकार [अप्पा] आत्मा [जोई] योगी (मन, वचन, काय के योगों का निरोध, सुनिश्चल) है और [वरणाणदंसणसमग्गो] श्रेष्ठ सम्यकरूप ज्ञान तथा दर्शन से समग्र है / परिपूर्ण है इसप्रकार जो [झायदि] ध्यान करता है [सो] वह [जोई] योगी (मुनि) [पावहरो] पाप को हरता है और [णिद्वंदो] निर्द्वन्द्व (रागद्वेष आदि विकल्पों से रहित) [हवदि] है।

+ अब श्रावकों को प्रवर्तने के लिए कहते हैं -

**एवं जिणेहि कहियं सवणाणं सावयाण पुण सुणसु
संसारविणासयरं सिद्धियरं कारणं परमं ॥८५॥**

अन्वयार्थ : [एवं] इस प्रकार [सवणाणं] श्रमण (मुनियों) को [जिणेहि कहियं] जिनदेव ने कहा है, [पुण] अब [सावयाण] श्रावकों के लिए [संसारविणासयरं] संसार का विनाश करनेवाला और [सिद्धियरं कारणं परमं] सिद्धि (मोक्ष) को करने उत्कृष्ट कारण [सुणसु] सुनाते हैं।

+ श्रावकों को पहिले क्या करना, वह कहते हैं -

गहिऊण य सम्मत्तं सुणिम्मलं सुरगिरीव णिक्कंपं
तं झाणे झाइज्जइ सावय दुक्खक्खयट्ठाए ॥८६॥

अन्वयार्थ : [सुणिम्मलं] सुनिर्मल और [सुरगिरीव] मेरुवत् [णिक्कंपं] निःकंप (अचल) [सम्मत्तं] सम्यक्त्व को [गहिऊण] ग्रहण करके [सावय] श्रावक [दुक्खक्खयट्ठाए] दुःख का क्षय करने के लिए [तं झाणे झाइज्जइ] उसका (सम्यग्दर्शन का) ध्यान करना ।

+ सम्यक्त्व के ध्यान की ही महिमा -

सम्मत्तं जो झायइ सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठकम्माणि ॥८७॥
किं बहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरवरा गए काले
सिज्झिहहि जे वि भविया तं जाणह सम्ममाहप्पं ॥८८॥

अन्वयार्थ : जो [श्रावक] [सम्मत्तं] सम्यक्त्व का [झायइ] ध्यान करता है [सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो] वह जीव सम्यग्दृष्टि है और [सम्मत्तपरिणदो] सम्यक्त्व-रूप परिणमता हुआ [उण खवेइ दुट्ठकम्माणि] दुष्ट जो आठ कर्म उनका क्षय करता है ।

[किं बहुणा भणिएणं] बहुत कहने से क्या साध्य है, जो [णरवरा] नरप्रधान [काले] अतीतकाल में [जे सिद्धा] सिद्ध [गए] हुए हैं और [जे वि भविया] आगामी काल में [सिज्झिहहि] सिद्ध होंगे [तं जाणह सम्ममाहप्पं] वह सम्यक्त्व का माहात्म्य जानो ।

+ जो निरन्तर सम्यक्त्व का पालन करते हैं उनको धन्य है -

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पडिया मणुया
सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं ॥८९॥

अन्वयार्थ : [ते धण्णा] वे धन्य हैं, [सुकयत्था] सुकृतार्थ हैं, [ते सूरा] वे शूरवीर हैं, [ते वि पडिया] वे ही पंडित हैं, [मणुया] वे ही मनुष्य हैं, [जेहिं] जिन पुरुषों ने [सिद्धियरं] मुक्ति को करनेवाले [सम्मत्तं] सम्यक्त्व को [सिविणे वि] स्वप्न में भी [ण मइलियं] मलिन नहीं किया (अतीचार नहीं लगाया) ।

+ इस सम्यक्त्व के बाह्य चिह्न बताते हैं -

हिंसारहिए धम्मे अट्टारहदोसवज्जिए देवे
णिग्गंथे पव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥९०॥

अन्वयार्थ : [हिंसारहिए धम्मे] हिंसा-रहित धर्म में, [अट्टारहदोसवज्जिए देवे] अठारह दोष-रहित देव में, [णिग्गंथे] निर्ग्रंथ (गुरु), [पव्वयणे] प्रवचन (मोक्ष का मार्ग, शास्त्र, आगम) में [सद्दहणं] श्रद्धान [होइ सम्मत्तं] होने पर सम्यक्त्व होता है ।

+ इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं -

जहजायरूवरूवं सुसंजयं सव्वसंगपरिचत्तं
लिंगं ण परावेक्खं जो मण्णइ तस्स सम्मत्तं ॥९१॥

अन्वयार्थ : [जहजायरूवरूवं] यथाजातरूप (नग्न) तो जिसका रूप है, [सुसंजयं] सुसंयत (सम्यक्प्रकार इन्द्रियों का निग्रह और जीवों पर दया), [सव्वसंगपरिचत्तं] सर्वसंग (सब ही परिग्रह) तथा सब लौकिक जनों की संगति से रहित है और [ण परावेक्खं] मोक्ष के प्रयोजन सिवाय अन्य प्रयोजन की अपेक्षा रहित [लिंगं] लिंग को [जो मण्णइ तस्स सम्मत्तं] जो माने / श्रद्धान करे उस जीव के सम्यक्त्व होता है ।

+ मिथ्यादृष्टि के चिह्न कहते हैं -

कुच्छियदेवं धम्मं कुच्छियलिंगं च बंदए जो दु
लज्जाभयगारवदो मिच्छादिट्ठी हवे सो हु ॥९२॥

सपरावेक्खं लिंगं राई देवं असंजयं वंदे
मण्णइ मिच्छादिट्ठी ण हु मण्णइ सुद्धसम्मत्तो ॥९३॥
सम्माइट्ठी सावय धम्मं जिणदेवदेसियं कुणदि
विवरीयं कुव्वंतो मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो ॥९४॥

अन्वयार्थ : [कुच्छियदेवं] कुत्सित देव (कुदेव) [धम्मं कुच्छियलिंगं च] कुत्सित धर्म (कुधर्म) और कुत्सित लिंग (कुलिंग)
की [लज्जाभयगारवदो] लज्जा, भय, गारव आदि कारणों से [बंदए जो दु] जो इनकी वंदना करता है [मिच्छादिट्ठी हवे सो
हु] वह प्रगट मिथ्यादृष्टि है ।

[सपरावेक्खं लिंगं] स्वपरापेक्ष (लौकिक प्रयोजन -- स्वापेक्ष, पर की अपेक्षा -- परापेक्ष) लिंग की [राई देवं] रागी देव की
और [असंजयं वंदे] संयम-रहित की वंदना करे, [मण्णइ] माने, श्रद्धान करे वह [मिच्छादिट्ठी] मिथ्यादृष्टि है, [ण हु] नहीं
[मण्णइ] मानता है [सुद्धसम्मत्तो] वह शुद्ध सम्यक्त्वी है ।

[सम्माइट्ठी] सम्यग्दृष्टि [सावय] श्रावक [जिणदेवदेसियं] जिनदेव से उपदेशित [धम्मं] धर्म का पालन [कुणदि] करता है
[विवरीयं] विपरीत [कुव्वंतो] करे [मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो] उसे मिथ्यादृष्टि जानना ।

+ मिथ्यादृष्टि जीव संसार में दुःख-सहित भ्रमण करता है -

मिच्छादिट्ठी जो सो संसारे संसरेइ सुहरहिओ
जम्मजरमरणपउरे दुक्खसहस्साउले जीवो ॥९५॥

अन्वयार्थ : जो [मिच्छादिट्ठी जीवो] मिथ्यादृष्टि जीव है [सो] वह [जम्मजरमरणपउरे] जन्म-जरा-मरण से प्रचुर और
[दुक्खसहस्साउले] हजारों दुःखों से व्याप्त इस [संसारे] संसार में [सुहरहिओ] सुखरहित (दुःखी) होकर [संसरेइ] भ्रमण
करता है ।

+ सम्यक्त्व-मिथ्यात्व भाव के कथन का संकोच -

सम्म गुण मिच्छ दोसो मणेण परिभाविऊण तं कुणसु
जं ते मणस्स रुच्चइ किं बहुणा पलविएणं तु ॥९६॥

अन्वयार्थ : [सम्म गुण] सम्यक्त्व के गुण और [मिच्छ दोसो] मिथ्यात्व के दोषों [तं] का [मणेण] मनन कर और [जं ते
मणस्स रुच्चइ] जो अपने मन को रुचे / प्रिय लगे [परिभाविऊण] सोच-समझकर [कुणसु] कर, [किं बहुणा पलविएणं
तु] बहुत प्रलापरूप कहने से क्या साध्य है ?

+ यदि मिथ्यात्व-भाव नहीं छोड़ा तब बाह्य भेष से कुछ लाभ नहीं -

बाहिरसंगविमुक्को ण वि मुक्को मिच्छभाव णिगंथो
किं तस्स ठाणमउणं ण वि जाणदि अप्पसमभावं ॥९७॥

अन्वयार्थ : [बाहिरसंगविमुक्को] बाह्य परिग्रह छोड़कर [ण वि मुक्को मिच्छभाव] मिथ्याभाव को नहीं छोड़कर
[णिगंथो] निर्ग्रन्थ होकर [ठाणमउणं] मौन खड़े रहने में [किं तस्स] क्या साध्य है ? तू [ण वि जाणदि अप्पसमभावं]
आत्मा का समभाव (वीतराग परिणाम) नहीं जानता है ।

+ मूलगुण बिगाड़े उसके सम्यक्त्व नहीं रहता ? -

मूलगुणं छित्तूण य बाहिरकम्मं करेइ जो साहू
सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणलिंगविराहगो णियद ॥९८॥

अन्वयार्थ : [मूलगुणं छित्तूण] मूलगुण छेदनकर (बिगाड़कर) [य] और [बाहिरकम्मं] बाह्य-क्रिया [करेइ जो साहू]
करता है वह साधु [जिणलिंगविराहगो णियद] निश्चय से जिनलिंग का विराधक है [सो ण लहइ सिद्धिसुहं] मोक्ष-सुख को
प्राप्त नहीं करता ।

+ आत्म-स्वभाव से विपरीत को बाह्य क्रिया-कर्म निष्फल -

किं काहिदि बहिकम्मं किं काहिदि बहुविहं च खवणं तु
किं काहिदि आदावं आदसहावस्स विवरीदो ॥१९॥
जदि पढदि बहु सुदाणि य जदि काहिदि बहुविहं च चारित्तं
तं बालसुदं चरणं हवेइ अप्पस्स विवरीदं ॥१००॥

अन्वयार्थ : [आदसहावस्स विवरीदो] आत्म-स्वभाव से विपरीत को [किं काहिदि बहिकम्मं] बाह्यकर्म क्या करेगा ? [किं काहिदि बहुविहं च खवणं तु] बहुत अनेक प्रकार श्रमण अर्थात् उपवासादि बाह्य तप भी क्या करेगा ? [किं काहिदि आदावं] आतापनयोग आदि कायक्लेश क्या करेगा ?
[अप्पस्स विवरीदं] आत्म-स्वभाव से विपरीत [जदि पढदि बहु सुदाणि] यदि बहुत शास्त्रों को पढ़े [य] और [जदि काहिदि बहुविहं च चारित्तं] यदि बहुत प्रकार के चारित्र का आचरण करे तो [तं बालसुदं चरणं] वह सब ही बाल-श्रुत और बाल-चारित्र [हवेइ] होता है ।

+ ऐसा साधु मोक्ष पाता है -

वेरग्गपरो साहु परदव्वपरम्मुहो य जो होदि
संसारसुहविरत्तो सगसुद्धसुहेसु अणुरत्तो ॥१०१॥
गुणगणविहूसियंगो हेयोपादेयणिच्छिदो साहु
झाणज्झयणे सुरदो सो पावइ उत्तमं ठाणं ॥१०२॥

अन्वयार्थ : [वेरग्गपरो] वैराग्य में तत्पर [य] और [परदव्वपरम्मुहो जो होदि] पर-द्रव्य से पराङ्मुख होता है वह [साहु] साधु [संसारसुहविरत्तो] संसार-सुख से विरक्त हो, [सगसुद्धसुहेसु] अपने आत्मीक शुद्ध (कषायों के क्षोभ से रहित) सुख में [अणुरत्तो] अनुरक्त (लीन) होता है ।
जो [साहु] साधु [गुणगणविहूसियंगो] मूलगुण, उत्तरगुणों से आत्मा को अलंकृत / शोभायमान किये हो, [हेयोपादेयणिच्छिदो] हेय-उपादेय तत्त्व का निश्चय हो, [झाणज्झयणे] ध्यान और अध्यन में [सुरदो] भली प्रकार लीन [सो पावइ उत्तमं ठाणं] वह उत्तम-स्थान (मोक्ष) पाता है ।

+ सब से उत्तम पदार्थ -- शुद्ध-आत्मा इस देह में ही रह रहा है, उसको जानो -

णविएहिं जं णविज्जइ झाइज्जइ झाइएहिं अणवरयं
थुव्वंतेहिं थुणिज्जइ देहत्यं किं पि तं मुणह ॥१०३॥

अन्वयार्थ : [णविएहिं जं णविज्जइ] नमन करने योग्य जिसे नमन करते हैं [झाइज्जइ झाइएहिं अणवरयं] ध्यान करने योग्य जिसका अनवरत ध्यान करते हैं [थुव्वंतेहिं थुणिज्जइ] स्तुति करने योग्य जिसकी स्तुति करते हैं [देहत्यं] देह में स्थित [किं पि तं मुणह] ऐसा क्या है उसे जानो ।

+ आत्मा ही मुझे शरण है -

अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंच परमेट्ठी
ते वि हु चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥१०४॥
सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं हि सत्तव चेव
चउरो चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥१०५॥

अन्वयार्थ : [अरुहा] अर्हन्त, [सिद्धायरिया] सिद्ध, आचार्य [उज्झाया] उपाध्याय और [साहु] साधु ये [पंच परमेट्ठी] पंच परमेष्ठी हैं [ते वि हु चिट्ठहि आदे] वे भी आत्मा में ही चेष्टारूप हैं, [तम्हा आदा हु मे सरणं] इसलिये मेरी आत्मा ही मुझे शरण है ।

[सम्मत्तं] सम्यग्दर्शन, [सण्णाणं] सम्यग्ज्ञान, [सच्चारित्तं] सम्यक्चारित्र [च] और [सत्तव] सम्यक् तप [एव] भी, ये [चउरो] चारों (आराधना) [चिट्ठहि आदे] आत्मा में ही चेष्टारूप हैं, [तम्हा आदा हु मे सरणं] इसलिए मेरे आत्मा ही मुझे शरण है ॥ १०५॥

+ मोक्षपाहुड पढ़ने, सुनने, भाने का फल कहते हैं -

एवं जिणपण्णत्तं मोक्खस्स य पाहुडं सुभत्तीए
जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ सासयं सोक्खं ॥१०६॥

अन्वयार्थ : [एवं] इसप्रकार [जिणपण्णत्तं] जिनदेव के कहे हुए [मोक्खस्स य पाहुडं] मोक्षपाहुड को [सुभत्तीए] भक्तिभाव से [जो पढइ] जो पढ़ते हैं, [सुणइ] सुनते हैं, [भावइ] चिंतवनरूप भावना करते हैं [सो पावइ सासयं सोक्खं] वे शाश्वत सुख (मोक्ष) पाते हैं ।

लिंग-पाहुड

+ इष्ट को नमस्कार कर ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा -

काऊण णमोकारं अरहंताणं तहेव सिद्धाणं
वोच्छामि समणलिंगं पाहुडसत्थं समासेण ॥१॥

अन्वयार्थ : कुन्दकुन्द आचार्य कहते हैं कि मैं [अरहंताणं] अरहन्तों को और [तहेव] वैसे ही [सिद्धाणं] सिद्धों को [णमोकारं] नमस्कार [काऊण] करके तथा जिसमें [समणलिंगं] श्रमणलिंग का निरूपण है इस प्रकार [पाहुडसत्थं] पाहुडशास्त्र को [समासेण] संक्षेप में [वोच्छामि] कहूँगा ।

+ बाह्यभेष अंतरंग-धर्म सहित कार्यकारी है -

धम्मेण होइ लिंगं ण लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती
जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो ॥२॥

अन्वयार्थ : [धम्मेण] धर्म से [लिंगं] लिंग [होइ] होता है परन्तु [लिंगमत्तेण] लिंग मात्र ही से [धम्मसंपत्ती] धर्म की प्राप्ती [ण] नहीं है, इसलिये हे भव्य-जीव ! तू [भावधम्मं] भाव-रूप धर्म को [जाणेहि] जान और केवल [लिंगेण] लिंग ही से [ते] तेरा [किं] क्या [कायव्वो] कार्य होता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं होता है ।

+ निर्ग्रथ लिंग ग्रहणकर कुक्रिया करके हँसी करावे, वे पापबुद्धि -

जो पावमोहिदमदी लिंगं घेतूण जिणवरिंदाणं
उवहसदि लिंगिभावं लिंगिमिय णारदो लिंगी ॥३॥

अन्वयार्थ : जो [जिणवरिंदाणं] जिनवरेन्द्र अर्थात् तीर्थकर देव के [लिंगं] लिंग नग्न दिगम्बर-रूप को [घेतूण] ग्रहण करके [लिंगिभावं] लिंगीपने के भाव को [उवहसदि] उपहसता है -- हास्यमात्र समझता है [लिंगी] वह लिंगी अर्थात् भेषी जिसकी [पावमोहिदमदी] बुद्धि पाप से मोहित है वह [णारदो] नारद जैसा है ।

+ लिंग धारण करके कुक्रिया करे उसको प्रगट कहते हैं -

णच्चदि गायदि तावं वायं वाएदि लिंगरूवेण
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥४॥

अन्वयार्थ : जो [लिंगरूवेण] लिंग-रूप करके [णच्चदि] नृत्य करता है, [गायदि] गाता है, [तावं] एवं [वायं] वादित्र [वाएदि] बजाता है सो [पावमोहिदमदी] पाप से मोहित बुद्धिवाला है, [तिरिक्खजोणी] तिर्यच-योनि है, पशु है, [ण सो]

समणो] श्रमण नहीं है ।

+ फिर कहते हैं -

सम्मूहदि रक्खेदि य अट्ठं झाएदि बहुपयत्तेण
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥5॥

अन्वयार्थ : जो निर्ग्रन्थ लिंग धारण करके परिग्रह को [सम्मूहदि] संग्रह-रूप करता है अथवा उसकी वांछा चिंतन ममत्व करता है और उस परिग्रह की [रक्खेदि] रक्षा करता है उसका [बहुपयत्तेण] बहुत यत्न करता है, उसके लिये [अट्ठं झाएदि] आर्त्तध्यान निरंतर ध्याता है, सो [पावमोहिदमदी] पाप से मोहित बुद्धिवाला है, [तिरिक्खजोणी] तिर्यच-योनि है, पशु है, [ण सो समणो] वह श्रमण नहीं है ।

+ फिर कहते हैं -

कलहं वादं जूवा णिच्चं बहुमाणगव्विओ लिंगी
वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरूवेण ॥6॥

अन्वयार्थ : जो लिंगी [बहुमाणगव्विओ] बहुत मान कषाय से गर्वमान हुआ [णिच्चं] निरंतर [कलहं] कलह करता है, [वादं] वाद करता है, [जूवा] द्यूत-क्रीड़ा करता है वह पापी [लिंगिरूवेण] लिंग-रूप-धारण द्वारा भी [पाओ] पाप [करमाणो] करता हुआ [णरयं] नरक को [वच्चदि] प्राप्त होता है ।

+ फिर कहते हैं -

पाओपहदंभावो सेवदि य अबंभु लिंगिरूवेण
सो पावमोहिदमदी हिंडदि संसारकंतारे ॥7॥

अन्वयार्थ : [लिंगिरूवेण] लिंग धारण करके [पाओ] पाप से [उपहत] घात किया गया है आत्म-भाव जिसने [य] और अब्रह्म का [सेवदी] सेवन करता है [सो] वह [पावमोहिदमदी] पाप से मोहित बुद्धिवाला [संसार] संसार-रूपी [कंतारे] वन में [हिंडदि] भ्रमण करता है ।

+ फिर कहते हैं -

दंसणणाणचरित्ते उवहाणे जइ ण लिंगरूवेण
अट्ठं झायदि झाणं अणंतसंसारिओ होदि ॥8॥

अन्वयार्थ : [जइ] यदि [लिंगरूवेण] लिंगरूप करके [दंसणणाणचरित्ते] दर्शन ज्ञान चारित्र को तो [उवहाणे] उपधान-रूप [ण] नहीं किये (धारण नहीं किये) और [अट्ठं झायदि झाणं] आर्त्तध्यान को ध्याता है तो [अणंतसंसारिओ] अनन्त-संसारी [होदि] होता है ।

+ यदि भावशुद्धि के बिना गृहस्थपद छोड़े तो यह प्रवृत्ति होती है -

जो जोडेदि विवाहं किसिकम्मवणिज्जजीवघादं च
वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरूवेण ॥9॥

अन्वयार्थ : जो गृहस्थों के परस्पर [विवाहं] विवाह [जोडेदि] जोड़ता है -- सम्बन्ध कराता है, [किसिकम्म] कृषि-कर्म, [वणिज्ज] व्यापार [च] और [जीवघादं] जीव-घात अर्थात् वैद्यकर्म के लिये जीवघात करना अथवा धीवरादि का कार्य, इन कार्यों को करता है वह [लिंगिरूवेण] लिंग-रूप-धारण द्वारा भी [पाओ] पाप [करमाणो] करता हुआ [णरयं] नरक को [वच्चदि] प्राप्त होता है ।

+ फिर कहते हैं -

चोराण लाउराण य जुद्ध विवादं च तिव्वकम्मेहिं
जंतेण दिव्वमाणो गच्छदि लिंगी णरयवासं ॥10॥

अन्वयार्थ : जो [चोराण] चोरों के [च] और [लाउराण] झूठ बोलने वालों के [जुद्ध] युद्ध [च] और [विवाद] विवाद कराता है और [तिव्वकम्मेहिं] तीव्र-कर्म जिनमें बहुत पाप उत्पन्न हो ऐसे तीव्र कषायों के कार्यों से तथा [जंतेण] यंत्र अर्थात् चौपड़, शतरंज, पासा, हिंदोला आदि से क्रीड़ा करता रहता है, वह लिंगी [णरयवासं] नरक [गच्छदि] जाता है ।

+ लिंग धारण करके दुःखी रहता है, आदर नहीं करता, वह भी नरक में जाता है -

**दंसणणाणचरित्ते तवसंजमणियमणिच्चकम्ममि
पीडयदि वट्टमाणो पावदि लिंगी णरयवासं ॥11॥**

अन्वयार्थ : [दंसणणाणचरित्ते] दर्शन ज्ञान चारित्र में, [तव] तप, [संजम] संयम, [णियम] नियम [णिच्चकम्ममि] नित्य-कर्म अर्थात् आवश्यक आदि क्रिया, इन क्रियाओं को करता हुआ [वट्टमाणो] वर्तमान में [पीडयदि] दुःखी होता है वह लिंगी [णरयवासं] नरकवास [पावदि] पाता है ।

+ जो भोजन में भी रसों का लोलुपी होता है वह भी लिंग को लजाता है -

**कंदप्पाइय वट्टइ करमाणो भोयणेसु रसगिद्धिं
मायी लिंगविवाई तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥12॥**

अन्वयार्थ : जो लिंग धारण करके [भोयणेसु] भोजन में भी [रसगिद्धिं] रस की गृद्धि अर्थात् अति आसक्तता को [करमाणो] करता रहता है वह [कंदप्पाइय] कंदर्प आदिक में [वट्टइ] वर्तता है, [मायी] मायवी अर्थात् कामसेवन के लिये अनेक छल करना विचारता है, [लिंगविवाई] लिंग को दूषित करता है [सो] वह [तिरिक्खजोणी] तिर्यचयोनि है, [ण सो समणो] श्रमण नहीं है ।

+ इसी को विशेषरूप से कहते हैं -

**धावदि पिंडणिमित्तं कलहं काऊण भुञ्जदे पिंडं
अवरपरूई संतो जिणमग्गि ण होइ सो समणो ॥13॥**

अन्वयार्थ : जो लिंगधारी पिंड अर्थात् [पिंडणिमित्तं] आहार के निमित्त [धावदि] दौड़ता है, आहारके निमित्त [कलहं] कलह [काऊण] करके [भुञ्जदे पिंडं] आहार को भोगता है, खाता है, और उसके निमित्त अन्य से परस्पर ईर्षा करता है [सो समणो] वह श्रमण [जिणमग्गि] जिन-मार्गी [ण] नहीं [होइ] है ।

+ फिर कहते हैं -

**गिण्हदि अदत्तदाणं परणिंदा वि य परोक्खदूसेहिं
जिणलिंगं धारंतो चोरेण व होइ सो समणो ॥14॥**

अन्वयार्थ : जो [अदत्तदाणं] बिना दिया तो दान [गिण्हदि] लेता है [च] और [परोक्खदूसेहिं] परोक्ष पर के दूषणों से [परणिंदा] पर की निंदा करता है [सो] वह [समणो] श्रमण [जिणलिंगं] जिनलिंग को [धारंतो] धारण करता हुआ भी [चोरेण] चोर के समान [होइ] है ।

+ जो लिंग धारण करके ऐसे प्रवर्तते हैं वे श्रमण नहीं हैं -

**उप्पडदि पडदि धावदि पुढवीओ खणदि लिंगरूवेण
इरियावह धारंतो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥15॥**

अन्वयार्थ : जो [लिंगरूवेण] लिंग रूप से [इरियावह] ईर्या-पथ [धारंतो] धारण कर भी, [उप्पडदि] उछले, [पडदि] गिर पड़े, फिर उठकर [धावदि] दौड़े और [पुढवीओ] पृथ्वी को [खणदि] खोदे, [सो] वह [समणो] श्रमण नहीं [तिरिक्खजोणी] तिर्यच-योनि / पशु है ।

+ लिंग ग्रहणकर वनस्पति आदि स्थावर जीवों की हिंसा का निषेध -

बंधो णिरओ संतो सस्सं खंडेदि तह य वसुहं पि
छिंददि तरुगण बहुसो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥16॥

अन्वयार्थ : जो लिंग धारण करके [बंधो] बंध को नहीं [णिरओ संतो] गिनता हुआ [सस्सं] अनाज को [खंडेदि] कूटता है [तह य] और वैसे ही [वसुहंपि] पृथ्वी को भी खोदता है तथा [बहुसो] बारबार [तरुगण] वृक्षों के समूह को [छिंददि] छेदता है, [सो] ऐसा लिंगी [तिरिक्खजोणी] तिर्यच-योनि है, पशु है, [समणो] श्रमण [ण] नहीं है ।

+ लिंग धारण करके स्त्रियों से राग करने का निषेध -

रागं करेदि णिच्चं महिलावग्गं परं च दूसेदि
दंसणणाणविहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥17॥

अन्वयार्थ : जो लिंग धारण करके [महिलावग्गं] स्त्रियों के समूह के प्रति तो [रागं करेदि णिच्चं] निरंतर राग-प्रीति करता है और [परं] अन्य को [दूसेदि] दोष लगाता है वह [दंसणणाणविहीणो] दर्शन-ज्ञान रहित है, ऐसा लिंगी [तिरिक्खजोणी] तिर्यच-योनि है, पशु समान है, [समणो] श्रमण [ण] नहीं है ।

+ फिर कहते हैं -

पव्वज्जहीणगहिणं णेहं सीसम्मि वट्टदे बहुसो
आयारविणयहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥18॥

अन्वयार्थ : जो लिंगी [पव्वज्जहीणगहिणं] दीक्षा-रहित गृहस्थों पर और [सीसम्मि] शिष्यों में [बहुसो] बहुत [णेहं] स्नेह [वट्टदे] रखता है और [आयार] आचार अर्थात् मुनियों की क्रिया और [विणयहीणो] गुरुओं के विनय से रहित होता है [सो] वह [समणो] श्रमण नहीं है [तिरिक्खजोणी] तिर्यच-योनि है, पशु है ।

+ उपसंहार -

एवं सहिओ मुणिवर संजदमज्झम्मि वट्टदे णिच्चं
बहुलं पि जाणमाणो भावविणट्ठो ण सो समणो ॥19॥

अन्वयार्थ : [एवं] पूर्वोक्त प्रकार प्रवृत्ति [सहिओ] सहित [मुणिवर] मुनिवर [संजदमज्झम्मि] संयमियों के मध्य भी [णिच्चं] निरन्तर [वट्टदे] रहता है और [बहुलं] बहुत शास्त्रों को [अपि] भी [जाणमाणो] जानता है तो भी [सो] वह [भावविणट्ठो] भावों से नष्ट है, [समणो] श्रमण [ण] नहीं है ।

+ श्रमण को स्त्रियों के संसर्ग का निषेध -

दंसणणाणचरित्ते महिलावगम्मि देदि वीसट्ठो
पासत्थ वि हु णियट्ठो भावविणट्ठो ण सो समणो ॥20॥

अन्वयार्थ : जो लिंग धारण करके [महिलावगम्मि] स्त्रियों के समूह में उनका [वीसट्ठो] विश्वास करके और उनको विश्वास उत्पन्न कराके [दंसणणाणचरित्ते] दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य को [देदि] देता है उनको सम्यक्त्व बताता है, पढ़ना-पढ़ाना, ज्ञान देता है, दीक्षा देता है, प्रवृत्ति सिखाता है, इसप्रकार विश्वास उत्पन्न करके उनमें प्रवर्तता है [सो] वह ऐसा लिंगी तो [पासत्थ] पार्श्वस्थ से [वि] भी [णियट्ठो] निकृष्ट है, प्रगट [भावविणट्ठो] भाव से विनष्ट है, [समणो] श्रमण [ण] नहीं है ।

+ फिर कहते हैं -

पुच्छलिघरि जो भुञ्जइ णिच्चं संथुणदि पोसए पिंडं
पावदि बालसहावं भावविणट्ठो ण सो सवणो ॥21॥

अन्वयार्थ : जो लिंगधारी [पुच्छलि] व्यभिचारिणी स्त्री के [घरि] घर [भुञ्जइ] भोजन लेता है, आहार करता है और [णिच्चं] नित्य उसकी [संथुणदि] स्तुति करता है [पिंडं] शरीर को [पोसए] पालता है वह ऐसा लिंगी [बालसहावं] बाल-स्वभाव को [पावदि] प्राप्त होता है, [भावविणट्ठो] भाव से विनष्ट है, [ण सो सवणो] वह श्रमण नहीं है ।

+ जो धर्म का यथार्थरूप से पालन करता है वह उत्तम सुख पाता है -

इय लिंगपाहुडमिणं सव्वंबुद्धेहिं देसियं धम्मं
पालेइ कट्टसहियं सो गाहदि उत्तमं ठाणं ॥२२॥

अन्वयार्थ : [इय] इस प्रकार इस [लिंगपाहुडमिणं] लिंगपाहुड शास्त्र का, [सव्वंबुद्धेहिं] सर्वबुद्ध जो ज्ञानी गणधरादि उन्होंने, [देसियं] उपदेश दिया है, उसको जानकर जो मुनि [धम्मं] धर्म को [कट्टसहियं] कष्ट-सहित बड़े यत्न से [पालेइ] पालता है, रक्षा करता है [सो] वह [उत्तमं ठाणं] उत्तम-स्थान / मोक्ष को [गाहदि] पाता है ।

शील-पाहुड

+ नमस्काररूप मंगल -

वीरं विसालणयणं रत्तुप्पलकोमलस्समप्पायं
तिविहेण पणमिऊण सीलगुणाणं णिसामेह ॥१॥

अन्वयार्थ : कुन्दकुन्द आचार्य कहते हैं कि [विसालणयणं] केवलदर्शन केवलज्ञान रूप विशालनयन हैं जिनके, [रत्तुप्पलकोमलस्समप्पायं] चरण रक्त कमल के समान कोमल हैं जिनके, ऐसे [वीरं] अंतिम तीर्थकर श्री वर्द्धमानस्वामी परम भट्टारक को [तिविहेण] मन वचन काय से [पणमिऊण] नमस्कार करके [सीलगुणाणं] शील अर्थात् निज-भावरूप प्रकृति उसके गुणों को अथवा शील और सम्यग्दर्शनादिक गुणों को [णिसामेह] कहूँगा ।

+ शील का रूप -

सीलस्स य णाणस्स य णत्थि विरोहो बुधेहिं णिद्धिट्ठो
णवरि य सीलेण विणा विसया णाणं विणासंति ॥२॥

अन्वयार्थ : [सीलस्स] शील के [य] और [णाणस्स] ज्ञान के, [बुधेहिं] ज्ञानियों ने [विरोहो] विरोध [णत्थि] नहीं [णिद्धिट्ठो] कहा है [च] और [णवरि] विशेष है वह कहते हैं -- [सीलेण] शील के [विणा] बिना [विसया] इन्द्रियों के विषय हैं वह [णाणं] ज्ञान को [विणासंति] नष्ट करते हैं ।

+ ज्ञान की भावना करना और विषयों से विरक्त होना दुर्लभ -

दुक्खे णज्जदि णाणं णाणं णाऊण भावणा दुक्खं
भावियमई व जीवो विसयेसु विरज्जे दुक्खं ॥३॥

अन्वयार्थ : प्रथम तो [णाणं] ज्ञान ही [दुक्खे] दुःख से [णज्जदि] प्राप्त होता है, कदाचित् [णाणं] ज्ञान भी प्राप्त करे तो उसको [णाऊण] जानकर उसकी [भावणा] भावना करना, बारंबार अनुभव करना [दुक्खं] दुःख से (दृढ़तर सम्यक् पुरुषार्थसे) होता है और कदाचित् [भावियमई] ज्ञान की भावना सहित भी [जीवो] जीव हो जावे तो [विसयेसु] विषयों को [दुक्खं] दुःख से [विरज्जे] त्यागता है ।

+ विषयों में प्रवर्तता है तबतक ज्ञान को नहीं जानता है -

ताव ण जाणदि णाणं विसयबलो जाव वट्टए जीवो
विसए विरत्तमेत्ते ण खवेइ पुराइयं कम्मं ॥४॥

अन्वयार्थ : [जाव] जब तक यह [जीवो] जीव [विसयबलो] विषयों के वशीभूत [वट्टए] रहता है [ताव] तब तक [णाणं] ज्ञान को [ण] नहीं [जाणदि] जानता है और ज्ञान को जाने बिना केवल [विसए] विषयों में [विरत्तमेत्ते] विरक्तिमात्र ही से [पुराइयं] पहिले बँधे हुए [कम्मं] कर्मों का [खवेइ] क्षय [ण] नहीं करता है ।

+ ज्ञान का, लिंगग्रहण का तथा तप का अनुक्रम -

णाणं चरित्तहीणं लिंगग्रहणं च दंसणविहूणं
संजमहीणो य तवो जइ चरइ णिरत्थयं सव्व ॥५॥

अन्वयार्थ : [ज्ञान] ज्ञान यदि [चरित्तहीणं] चारित्ररहित हो [च] और [लिंगग्रहणं] लिंग का ग्रहण यदि [दंसणविहूणं] दर्शनरहित हो [य] तथा [संजमहीणो] संयमरहित [तवो] तप भी निरर्थक है, इस प्रकार के [सव्व] सब [चरइ] आचरण [णिरत्थयं] निरर्थक हैं ।

+ ऐसा करके थोड़ा भी करे तो बड़ा फल होता है -

णाणं चरित्तसुद्धं लिंगग्रहणं च दंसणविसुद्धं
संजमसहिदो य तवो थोओ वि महाफलो होइ ॥६॥

अन्वयार्थ : [णाणं] ज्ञान तो [चरित्तसुद्धं] चारित्र से शुद्ध [च] और [लिंगग्रहणं] लिंग का ग्रहण [दंसणविसुद्धं] दर्शन से शुद्ध [च] तथा [संजमसहिदो] संयमसहित [तवो] तप [थोओवि] थोड़ा भी हो तो [महाफलो] महाफलरूप [होइ] होता है ।

+ विषयासक्त रहते हैं वे संसार ही में भ्रमण करते हैं -

णाणं णाऊण णरा केई विसयाइभावसंसत्त ।
हिंडंति चादुरगदिं विसएसु विमोहिया मूढा ॥७॥

अन्वयार्थ : कई [णरा] पुरुष [णाणं] ज्ञान को [णाऊण] जानकर भी [केई] कदाचित् [विसयाइभावसंसत्त] विषयरूप भावों में आसक्त होते हैं [विसएसु] विषयों से [विमोहिया] विमोहित होने पर ये [मूढा] मूढ़ / मोही [चादुरगदिं] चतुर्गति रूप संसार में [हिंडंति] भ्रमण करते हैं ।

+ ज्ञान प्राप्त करके इसप्रकार करे तब संसार कटे -

जे पुण विसयविरत्त णाणं णाऊण भावणासहिदा
छिंदंति चादुरगदिं तवगुणजुत्त ण संदेहो ॥८॥

अन्वयार्थ : [पुण] और [जे] जो [णाणं] ज्ञान को [णाऊण] जानकर [भावणासहिदा] भावना सहित [विसयविरत्त] विषयों से विरक्त होते हैं, वे [तवगुणजुत्त] तप और गुण अर्थात् मूल-गुण उत्तर-गुण-युक्त होकर [चादुरगदिं] चतुर्गतिरूप संसार को [णसंदेहो] निःसंदेह ही [छिंदंति] छेदते हैं ।

+ शीलसहित ज्ञान से जीव शुद्ध होता है उसका दृष्टान्त -

जह कंचणं विसुद्धं धम्मइयं खडियलवणलेवेण
तह जीवो वि विसुद्धं णाणविसलिलेण विमलेण ॥९॥

अन्वयार्थ : [जह] जैसे [कंचणं] सुवर्ण [खडिय] सुहागा (खड़िया क्षार) और [लवणलेवेण] नमक के लेप से [विसुद्धं] विशुद्ध / निर्मल / कांतियुक्त [धम्मइयं] होता है [तह] वैसे ही [जीवो वि] जीव भी विषय-कषायों के मलरहित [विमलेण] निर्मल [णाणवि] ज्ञानरूप [सलिलेण] जल से प्रक्षालित होकर कर्मरहित [विसुद्धं] विशुद्ध होता है ।

+ विषयासक्ति ज्ञान का दोष नहीं, कुपुरुष का दोष -

णाणस्स णत्थि दोसो कुप्पुरिसाणं वि मंदबुद्धीणं
जे णाणगव्विदा होऊणं विसएसु रज्जंति ॥१०॥

अन्वयार्थ : [जे] जो पुरुष [णाणगव्विदा] ज्ञानगर्वित [होऊणं] होकर ज्ञानमद से [विसएसु] विषयों में [रज्जंति] रंजित होते हैं सो यह [णाणस्स] ज्ञान का [दोसो] दोष [णत्थि] नहीं है, वे [कुप्पुरिसाणं] कुपुरुष [वि] ही [मंदबुद्धीणं] मंदबुद्धि हैं उनका दोष है ।

+ इसप्रकार निर्वाण होता है -

णाणेण दंसणेण य तवेण चरिएण सम्मसहिएण
होहदि परिणिव्वाणं जीवाण चरित्तसुद्धाणं ॥११॥

अन्वयार्थ : [णाणेण] ज्ञान का [दंसणेण] दर्शन का [य] और [तवेण] तप का [सम्मसहिएण] सम्यक्त्व-भाव सहित [चरिएण] आचरण [होहदि] यदि हो तो [चरित्तसुद्धाणं] चारित्र से शुद्ध [जीवाण] जीवों को [परिणिव्वाणं] निर्वाण की प्राप्ति होती है ।

+ शील की मुख्यता द्वारा नियम से निर्वाण -

सीलं रक्खंताणं दंसणसुद्धाण दिढचरित्तणं
अत्थि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्तणं ॥१२॥

अन्वयार्थ : जिन पुरुषोंका [विसएसु] विषयों से [विरत्तचित्तणं] चित्त विरक्त है, [सीलं] शील की [रक्खंताणं] रक्षा करते हैं, [दंसणसुद्धाण] दर्शन से शुद्ध हैं और जिनका [दिढचरित्तणं] चारित्र दृढ़ है ऐसे पुरुषों को [धुवं] नियम से [णिव्वाणं] निर्वाण [अत्थि] होता है ।

+ अविरति को भी 'मार्ग' विषयों से विरक्त ही कहना योग्य -

विसएसु मोहिदाणं कहियं मगं पि इट्ठदरिसीणं
उम्मगं दरिसीणं णाणं पि णिरत्थयं तेसिं ॥१३॥

अन्वयार्थ : जो पुरुष [इट्ठदरिसीणं] इष्ट मार्ग को दिखानेवाले ज्ञानी है और [विसएसु] विषयों से [मोहिदाणं] विमोहित हैं तो भी उनको [मगंपि] मार्ग की प्राप्ति [कहियं] कही है, परन्तु जो [उम्मगं] उन्मार्ग को [दरिसीणं] दिखानेवाले हैं [तेसिं] उनको तो [णाणं] ज्ञान की प्राप्ति भी [णिरत्थयं] निरर्थक है ।

कुमयकुसुदपसंसा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं
शीलवदणाणरहिदा ण हु ते आराधया होंति ॥१४॥

अन्वयार्थ : जो [बहुविहाइं] बहुत प्रकार के [सत्थाइं] शास्त्रों को [जाणंता] जानते हैं और [कुमयकुसुदपसंसा] कुमत्त कुशास्त्र की प्रशंसा करनेवाले हैं वे [शीलवदणाणरहिदा] शीलव्रत और ज्ञान रहित हैं [ते] वे इनके [आराधया] आराधक [ण] नहीं [होंति] होते हैं ।

रूवसिरिगव्विदाणं जुव्वलावण्णकंतिकलिदाणं
सीलगुणवज्जिदाणं णिरत्थयं माणुसं जम्म ॥१५॥

अन्वयार्थ : जो पुरुष [जुव्व] यौवन अवस्था सहित हैं और [लावण्ण] लावण्य सहित हैं, शरीर की [कंतिकलिदाणं] कांति / प्रभा से मंडित हैं और सुन्दर [रूवसिरिगव्विदाणं] रूपलक्ष्मी संपदा से गर्वित हैं, मदोन्मत्त हैं, परन्तु वे यदि [सीलगुण] शील और गुणों से [वज्जिदाणं] रहित हैं तो उनका [मानुषं] मनुष्य [जम्म] जन्म [णिरत्थयं] निरर्थक है ।

+ बहुत शास्त्रों का ज्ञान होते हुए भी शील ही उत्तम -

वायरणछंदवइसेसियववहारणायसत्थेसु
वेदेऊण सुदेसु य तेसु सुयं उत्तमं शीलं ॥१६॥

अन्वयार्थ : [वायरण] व्याकरण, [छंद] छंद, [वइसेसिय] वैशेषिक, [ववहार] व्यवहार, [णायसत्थेसु] न्यायशास्त्र / ये शास्त्र [च] और [सुदेसु] श्रुत अर्थात् जिनागम [तेसु] इनमें [श्रुतं] श्रुत अर्थात् जिनागम को जानकर भी, इनमें [शीलम्] शील हो वही [उत्तमं] उत्तम है ।

+ जो शील गुण से मंडित हैं, वे देवों के भी वल्लभ हैं -

शीलगुणमंडिदाणं देवा भवियाण वल्लहा होंति सुदपारयपउरा णं दुस्सीला अप्पिला लोए ॥१७॥

अन्वयार्थ : जो [भवियाण] भव्यप्राणी [शीलगुणमंडिदाणं] शील और सम्यग्दर्शनादि गुण अथवा शील वही गुण उससे मंडित हैं उनका [देवा] देव भी [वल्लहा] वल्लभ / सहायक [होंति] होता है । जो [सुदपारयपउराणं] शास्त्र के पार पहुँचे हैं, ग्यारह अंग तक पढ़े हैं और [दुस्सीला] शीलगुण से रहित [णं] नहीं हैं, वे [लोए] लोक में [अप्पिला] न्यून हैं ।

+ शील सहित का मनुष्यभव में जीना सफल -

सव्वे वि य परिहीणा रूवणिरूवा वि पडिदसुवया वि सीलं जेसु सुसीलं सुजीविदं माणुसं तेसिं ॥१८॥

अन्वयार्थ : जो [सव्वे] सब प्राणियों में [परिहीणा] हीन हैं, कुलादिक से न्यून हैं और [रूवणिरूवा] रूप से विरूप हैं सुन्दर नहीं है, [पडिदसुवया] अवस्था से सुन्दर नहीं हैं, वृद्ध हो गये हैं, परन्तु [जेसु] जिनमें [सीलं] शील [सुसीलं] सुशील है, स्वभाव उत्तम है, कषायादिक की तीव्र आसक्तता नहीं है [तेसिं] उनका [माणुसं] मनुष्यपना [सुजीविदं] सुजीवित है, जीना अच्छा है ।

+ जितने भी भले कार्य हैं वे सब शील के परिवार हैं -

जीवदया दम सच्चं अचोरियं बंभचेरसंतोसे सम्मदंसण णाणं तओ य सीलस्स परिवारो ॥१९॥

अन्वयार्थ : जीव-दया, [दम] इन्द्रियों का दमन, [सच्चं] सत्य, [अचोरियं] अचौर्य, [बंभचेरसंतोसे] ब्रह्मचर्य, संतोष, [सम्मदंसण] सम्यग्दर्शन, [णाणं] ज्ञान, [य] और [तओ] तप -- ये सब [सीलस्स] शील के [परिवारो] परिवार हैं ।

+ शील ही तप आदिक हैं -

सीलं तवो विसुद्धं दंसणसुद्धी य णाणसुद्धी य सीलं विसयाण अरी सीलं मोक्खस्स सोवाणं ॥२०॥

अन्वयार्थ : [सीलं] शील ही [विसुद्धं] निर्मल [तवो] तप है, [य] और [दंसणसुद्धी] दर्शन की शुद्धता है, [य] और [णाणसुद्धी] ज्ञान की शुद्धता है, शील ही [विसयाण] विषयों का [अरी] शत्रु है और शील ही [मोक्खस्स] मोक्ष की [सोवाणं] सीढ़ी है ।

+ विषयरूप विष महा प्रबल है -

जह विसयलुद्ध विसदो तह थावरजंगमाण घोराणं सव्वेसिं पि विणासदि विसयविसं दारुणं होई ॥२१॥

अन्वयार्थ : [जह] जैसे [विसदो] विषय सेवनरूपी विष [विसयलुद्ध] विषय-लुब्ध जीवों को विष देनेवाला है, [तह] वैसे ही [घोराणं] घोर / तीव्र [थावरजंगमाण] स्थावर-जंगम [सव्वेसिं] सब ही विष प्राणियों का [विणासदि] विनाश करते हैं तथापि इन सब विषों में [विसयविसं] विषयों का विष [दारुणं] उत्कृष्ट है / तीव्र [होई] है ।

+ विषय-रूपी विष से संसार में बारबार भ्रमण -

वारि एक्कम्मि य जम्मे मरिज्ज विसवेयणाहदो जीवो विसयविसपरिहयाणं भमंति संसारकंतारे ॥२२॥

अन्वयार्थ : [विसवेयणाहदो] विष की वेदना से नष्ट [जीवो] जीव तो एक [जम्मे] जन्म में [एक्कम्मि] एक [वारि] बार ही ही [मरिज्ज] मरता है परन्तु [विसयविसपरिहयाणं] विषय-रूप विष से नष्ट जीव अतिशयता / बारबार [संसारकंतारे] संसार-रूपी वन में [भमंति] भ्रमण करते हैं ।

+ विषयों की आसक्ति से चतुर्गति में दुःख -

**णरएसु वेयणाओ तिरिक्खए माणवेसु दुक्खाइं
देवेसु वि दोहग्गं लहंति विसयासिया जीवा ॥२३॥**

अन्वयार्थ : [विसयासिया] विषयों में आसक्त [जीवा] जीव [णरएसु] नरक में अत्यंत [वेयणाओ] वेदना पाते हैं, [तिरिक्खए] तिर्चचों में तथा [माणवेसु] मनुष्यों में [दुक्खाइं] दुःखों को पाते हैं और [देवेसु] देवों में उत्पन्न हों वहाँ [वि] भी [दोहग्गं] दुर्भाग्यपना [लहंति] पाते हैं ।

+ विषयों को छोड़ने से कुछ भी हानि नहीं है -

**तुसधम्मंतबलेण य जह दव्वं ण हि णराण गच्छेदि
तवसीलमंत कुसली खवंति विसयं विस व खलं ॥२४॥**

अन्वयार्थ : [जह] जैसे [तुस] तुषों के [धम्मंतबलेण] चलाने से, उड़ाने से [णराण] मनुष्य का कुछ [दव्वं] द्रव्य [ण] नहीं [गच्छेदि] जाता है, वैसे ही [तवसीलमंत] तपस्वी और शीलवान् पुरुष [विसयं] विषयों रूपी [विस] विष की [खलं] खल को [कुसली] कुशलता से [खवंति] क्षेपते हैं, दूर फेंक देते हैं ।

+ सब अंगों में शील ही उत्तम है -

**वट्टेसु य खंडेसु य भद्देसु य विसालेसु अंगेसु
अंगेसु य पप्पेसु य सव्वेसु य उत्तमं सीलं ॥२५॥**

अन्वयार्थ : प्राणी के देह में कई [अंगेसु] अंग तो [वट्टेसु] गोल सुघट प्रशंसा योग्य होते हैं [य] और कई अंग [खंडेसु] अर्द्ध गोल सदृश प्रशंसा योग्य होते हैं, कई अंग [भद्देसु] भद्र अर्थात् सरल सीधे प्रशंसा योग्य होते हैं और कई अंग [विसालेसु] विस्तीर्ण चौड़े प्रशंसा योग्य होते हैं, इसप्रकार [सव्वेसु] सबही [अंगेसु] अंग यथास्थान शोभा [पप्पेसु] पाते हुए भी अंगों में यह [सीलं] शील नाम का अंग ही [उत्तमं] उत्तम है, यह न तो हो सब ही अंग शोभा नहीं पाते हैं, यह प्रसिद्ध है ।

+ विषयों में आसक्त, मूढ़, कुशील का संसार में भ्रम -

**पुरिसेण वि सहियाए कुसमयमूढेहि विसयलोलेहिं
संसार भमिदव्वं अरयघरट्टं व भूदेहिं ॥२६॥**

अन्वयार्थ : जो [कुसमयमूढेहि] कुमत से मूढ़ हैं वे ही अज्ञानी हैं और वे ही [विसयलोलेहिं] विषयों में लोलुपी हैं / आसक्त हैं, वे जैसे [अरयघरट्टं] अरहट में घड़ी भ्रमण करती है वैसे ही [संसार] संसार में [भमिदव्वं] भ्रमण करते हैं, [पुरिसेण] उस पुरुष के [सहियाए] साथ [भूदेहिं] अन्य जनों के [व] भी संसार में दुःखसहित भ्रमण होता है ।

+ जो कर्म की गांठ विषय सेवन करके आप ही बाँधी है उसको सत्पुरुष तपश्चरणादि करके आप ही काटते हैं -

**आदेहि कम्मगंठी जा बद्धा विसयरागरंगेहिं
तं छिन्दन्ति कयत्था तवसंजमसीलयगुणेण ॥२७॥**

अन्वयार्थ : [जा] जो [विसयरागरंगेहिं] विषयों के रागरंग करके [आदेहि] आप ही [कम्मगंठी] कर्म की गाँठ [बद्धा] बाँधी है [तं] उसको [कयत्था] कृतार्थ पुरुष (उत्तम पुरुष) [तवसंजमसीलयगुणेण] तप संयम शील के द्वारा प्राप्त हुआ जो गुण उसके द्वारा [छिन्दन्ति] छेदते / खोलते हैं ।

+ जो शील के द्वारा आत्मा शोभा पाता है उसको दृष्टान्त द्वारा दिखाते हैं -

**उदधी व रदणभरिदो तवविणयंसीलदाणरयणाणं
सोहेंतो य ससीलो णिव्वाणमणुत्तरं पत्ते ॥२८॥**

अन्वयार्थ : जैसे [उदधी] समुद्र [रदणभरिदो] रत्नों से भरा है तो भी जल-सहित शोभा पाता है, वैसे ही यह आत्मा [तवविणयंसीलदाणरयणाणं] तप, विनय, शील, दान इन रत्नों में [ससीलो] शीलसहित [सोहेंतो] शोभने वाला, [अनुत्तरम्] जिससे आगे और नहीं है ऐसे, [णिव्वाणम्] निर्वाणपद को [पत्ते] प्राप्त करता है ।

+ जो शीलवान पुरुष हैं वे ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं -

**सुणहाण गद्दहाण ण गोवसुमहिलाण दीसदे मोक्खो
जे सोधंति चउत्थं पिच्छिज्जंता जणेहि सव्वेहिं ॥२९॥**

अन्वयार्थ : [सुणहाण] श्रान, [गद्दहाण] गर्दभ इनमें [च] और [गोवसुमहिलाण] गौ आदि पशु तथा स्त्री को [मोक्खो] मोक्ष होना [ण] नहीं [दीसदे] दिखता है । [जे] जो [चउत्थं] चतुर्थ (पुरुषार्थ) को [सोधंति] शोधते हैं उन्हीं के मोक्ष का होना [सव्वेहिं] सब [जणेहि] जन द्वारा [पिच्छिज्जंता] देखा जाता है ।

+ शील के बिना ज्ञान ही से मोक्ष नहीं है, इसका उदाहरण -

**जइ विसयलोलएहिं णाणीहि हविज्ज साहिदो मोक्खो
तो सो सच्चइपुत्ते दसपुव्वीओ वि किं गदो णरयं ॥३०॥**

अन्वयार्थ : [जइ] यदि [विसयलोलएहिं] विषयों में लोलुप / आसक्त और [णाणीहि] ज्ञानी [हविज्ज] होकर [मोक्खो] मोक्ष [साहिदो] साधा हो तो [सो] वह [सच्चइपुत्ते] सात्यकि पुत्र (रुद्र) [दसपुव्वीओ] दश पूर्व को जाननेवाला रुद्र [णरयं] नरक में [किं] क्यों [गदो] गया ?

+ शील के बिना ज्ञान से ही भाव की शुद्धता नहीं होती है -

**जइ णाणेण विसोहो सीलेण विणा बुहेहिं णिद्धिट्ठो
दसपुव्वियस्स भावो य ण किं पुणु णिम्मलो जादो ॥३१॥**

अन्वयार्थ : [जइ] यदि [णाणेण] ज्ञान से [सीलेण] शील के [विणा] बिना [विसोहो] विशुद्धता [बुहेहिं] पंडितों ने [णिद्धिट्ठो] कही हो तो [पुणु] फिर [दसपुव्वियस्स] दश पूर्व को [भावो] जाननेवाले (रुद्र) के [णिम्मलो] निर्मलता [किं] क्यों [ण] नहीं [जादो] हुई ।

+ यदि नरक में भी शील हो जाय और विषयों में विरक्त हो जाय तो वहाँ से निकलकर तीर्थंकर पद को प्राप्त होता है -

**जाए विसयविरत्ते सो गमयदि णरयवेयणा पउरा
ता लेहदि अरुहपयं भणियं जिणवड्ढमाणेण ॥३२॥**

अन्वयार्थ : [जाए] यदि [विसयविरत्ते] विषयों से विरक्त है [सो] वह जीव [पउरा] प्रचुर [णरयवेयणा] नरक वेदना को [गमयदि] गंवाता है (वेदना अल्प हो जाती है) [ता] वह, वहाँ से निकलकर, [अरुहपयं] अरहंत पद को [लेहदि] प्राप्त होता है ऐसा [जिणवड्ढमाणेण] जिन वर्द्धमान भगवान ने [भणियं] कहा है ।

+ इस कथन का संकोच करते हैं -

**एवं बहुप्पयारं जिणेहि पच्चक्खणाणदरसीहिं
सीलेण य मोक्खपयं अक्खातीदं य लोयणाणेहिं ॥३३॥**

अन्वयार्थ : [एवं] पूर्वोक्त प्रकार तथा [बहुप्पयारं] अन्य प्रकार (बहुत प्रकार) जिनके [पच्चक्खणाणदरसीहिं] प्रत्यक्ष ज्ञान-दर्शन पाये जाते हैं और [लोयणाणेहिं] जिनके लोक-अलोक का ज्ञान है ऐसे [जिणेहि] जिनदेव ने कहा है कि [सीलेण] शील से [अक्खातीदं] अक्षातीत / इन्द्रियरहित अतीन्द्रिय ज्ञान सुख है, ऐसा [मोक्खपयं] मोक्षपद होता है ।

+ इस शील से निर्वाण होता है उसका बहुतप्रकार से वर्णन -

**सम्मत्तणाणदंसणतववीरियपंचयारमप्पाणं
जलणो वि पवणसहिदो डहंति पोरायणं कम्मं ॥३४॥**

अन्वयार्थ : [सम्मत्तणाणदंसणतववीरिय] सम्यक्त्व-ज्ञान-दर्शन-तप-वीर्य ये [पंचयार] पंच आचार हैं वे [अप्पाणं] आत्मा का आश्रय पाकर [पोरायणं] पुरातन [कम्मं] कर्मों को वैसे ही [डहंति] दग्ध करते हैं जैसे कि [पवणसहिदो] पवन सहित [जलणो] अग्नि पुराने सूखे ईंधन को दग्ध कर देती है ।

+ ऐसे अष्टकर्मों को जिनने दग्ध किये वे सिद्ध हुए हैं -

**णिद्दङ्ढअट्ठकम्मा विसयविरत्त जिदिदिया धीरा
तवविणयसीलसहिदा सिद्धा सिद्धिं गदिं पत्त ॥३५॥**

अन्वयार्थ : जिन पुरुषों ने [जिदिदिया] इन्द्रियों को जीत लिया है इसी से [विसयविरत्त] विषयों से विरक्त हो गये हैं, और [धीरा] धीर हैं, परिषहादि उपसर्ग आने पर चलायमान नहीं होते हैं, [तवविणयसीलसहिदा] तप, विनय, शील सहित हैं वे [णिद्दङ्ढअट्ठकम्मा] अष्ट कर्मों को दूर करके [सिद्धिगदिं] सिद्धगति जो मोक्ष उसको [पत्त] प्राप्त हो गये हैं, वे [सिद्धा] सिद्ध कहलाते हैं ।

+ जो लावण्य और शीलयुक्त हैं वे मुनि प्रशंसा के योग्य होते हैं -

**लावण्यसीलकुसलो जम्ममहीरुहो जस्स सवणस्स
सो सीलो स महप्पा भमिज्ज गुणवित्थरं भविए ॥३६॥**

अन्वयार्थ : [जस्स] जिस [सवणस्स] मुनि का [जम्ममहीरुहो] जन्मरूप वृक्ष [लावण्य] सर्व अंग सुन्दर तथा [सील] शील, इन दोनों में [कुसलो] प्रवीण / निपुण हो [सो] वे मुनि [सीलो] शीलवान् हैं, [स] वे महात्मा हैं, उनके [गुणवित्थरं] गुणों का विस्तार [भविए] लोक में [भमिज्ज] भ्रमता है, फैलता है ।

+ जो ऐसा हो वह जिनमार्ग में रत्नत्रय की प्राप्तिरूप बोधि को प्राप्त होता है -

**णाणं झाणं जोगो दंसणसुद्धीय वीरियायत्तं
सम्मत्तदंसणेण य लहंति जिणसासणे बोहिं ॥३७॥**

अन्वयार्थ : [णाणं] ज्ञान, [झाणं] ध्यान, [जोगो] योग, [दंसणसुद्धीय] दर्शन की शुद्धता ये तो [वीरियायत्तं] वीर्य के आधीन हैं [च] और [सम्मत्तदंसणेण] सम्यग्दर्शन से [जिणसासणे] जिनशासन में [बोहिं] बोधि को [लहंति] प्राप्त करते हैं, रत्नत्रय की प्राप्ति होती है ।

+ यह प्राप्ति जिनवचन से होती है -

**जिणवयणगहिदसारा विसयविरत्त तवोधणा धीरा
सीलसलिलेण ण्हादा ते सिद्धालयसुहं जंति ॥३८॥**

अन्वयार्थ : [जिणवयण] जिनवचनों के [गहिदसारा] सार को ग्रहण कर [विसयविरत्त] विषयों से विरक्त हो गये हैं, ऐसे [धीरा] धीर [तवोधणा] मुनि [सीलसलिलेण] शीलरूप जल से [ण्हादा] स्नानकर शुद्ध होकर [सिद्धालयसुहं] सिद्धालय के सुखों को [जंति] प्राप्त होते हैं ।

+ अंतसमय में सल्लेखना कही है, उसमें दर्शन ज्ञान चारित्र तप इन चार आराधना का उपदेश है -

**सव्वगुणखीणकम्मा सुहदुक्खविवज्जिदा मणविसुद्धा
पप्फोडियकम्मरया हवंति आराहणापयडा ॥३९॥**

अन्वयार्थ : [सव्वगुण] सर्वगुण जो मूलगुण उत्तरगुणों से जिसमें [खीणकम्मा] कर्म क्षीण हो गये हैं, [सुहदुक्खविवज्जिदा] सुख-दुःख से रहित हैं, [मणविसुद्धा] मन विशुद्ध हैं और जिसमें [कम्मरया] कर्मरूप रज को [पप्फोडिय] उड़ा दी है ऐसी [आराहणा] आराधना [पयडा] प्रगट [हवंति] होती है ।

+ ज्ञान से सर्वसिद्धि है यह सर्वजन प्रसिद्ध है वह ज्ञान तो ऐसा हो -

**अरहंते सुहभत्ती सम्मत्तं दंसणेण सुविसुद्धं
सीलं विसयविरागो णाणं पुण केरिसं भणियं ॥४०॥**

अन्वयार्थ : [अरहंते] अरहंत में [सुहभत्ती] शुभ भक्ति का होना [सम्मत्तं] सम्यक्त्व है, वह [दंसणेण] सम्यग्दर्शन से [सुविसुद्धं] विशुद्ध है, [विसयविरागो] विषयों से विरक्त होना [सीलं] शील है और [णाणं] ज्ञान [केरिसं] क्या [पुण] इससे भिन्न [भणियं] कहा है ?

